सिद्धयोग

संस्थापक : योगयोगेश्वर अनन्तश्री चन्द्रमोहनजी महाराज

योग सिद्धान्त एवं आध्यात्म का प्रतिपादक मासिक

श्री सिद्धगुफा प्रकाशन सवाँई–283202 (आगरा) उ.प्र.

वर्ष : 55 : अंक : 09
दिसम्बर 2022

प्रकाशन तिथि : 01.12.2022

मूल्य – एक प्रति : 22/–, द्विवार्षिक : 400/–

अमृत-कण

आ यद्वामीय चक्षसा मित्र वयं च सूरयः।
व्यचिष्ठे बहुपाय्ये यतेमहि स्वराज्ये।।

(ऋग्वेद)

हे परस्पर स्नेहभाव और विरोध रहित स्त्री-पुरुषो! दीर्घ दृष्टि से युक्त बनो! हम विद्वान लोग, आप और अन्य सब लोग मिलकर स्वराज्य की रक्षा के लिए सब प्रकार से प्रयत्नशील रहें।

◆ ◆ ◆

काव्यशास्त्रविनोदेन कालोगच्छति धीमताम्।
व्यसनेन च मूर्खाणां निद्रया कलहेन वा।।

(हितोपदेश)

बुद्धिमानों का समय काव्य, शास्त्र, साहित्य का अध्ययन कर मनोरंजन में व्यतीत होता है, परन्तु मूर्ख यानि बुद्धिहीन लोगों का समय बुरी आदतों में, सोने में और कलह करने में व्यतीत होता है।

◆ ◆ ◆

समं पश्यन्हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम्।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम्।।

(श्रीमद्भगवद्गीता)

जो व्यक्ति परमात्मा को सर्वत्र और प्रत्येक जीव में समान रूप से मौजूद देखता है, वह अपने मन के द्वारा अपने आपको भ्रष्ट नहीं करता। इस प्रकार वह दिव्य गन्तव्य को प्राप्त कर लेता है।

◆ ◆ ◆

विद्या मित्रं प्रवासेषु भार्या मित्रं गृहेषु च।
व्याधितस्यौषधं मित्रं धर्मो मित्रं मृतस्य च।।

(चाणक्य नीति)

घर के बाहर निकले हुए का सच्चा मित्र विद्या होती है, घर के अन्दर शीलयुक्त पत्नी मित्र होती है, रोगी के लिए औषधि मित्र होती है और मरने वाले का मित्र उसका धर्म (धर्माचरण) होता है। इसलिए धर्म का पालन अधिक से अधिक करना चाहिए।

सिद्धयोग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक मासिक-पत्र

ध्यायं ध्यायं यदिह परमं ब्रह्म शुद्ध स्वभावम्
मर्त्योमृत्योर्मुख विवरतो, मुक्तिमाप्नोति सद्यः।
तत्राप्यर्थान् बहुतर विशदान् योगशास्त्रोपदेशान्
कल्याणानाम् भवतु महतां सिद्धये सिद्धयोगः।।

अर्थ :—शुद्ध (निर्विकार) स्वभाव वाले परम ब्रह्म का ध्यान करते-करते मृत्यु के मुख में पड़ा हुआ मनुष्य शीघ्र ही मुक्ति को प्राप्त हो जाता है। उस मुक्ति की प्राप्ति के उपाय स्वरूप योग ध्यान शास्त्र के सिद्धान्तों की विस्तृत व्याख्या करने वाली ''सिद्धयोग'' नामक पत्रिका सत्पुरुषों के परम कल्याण की सिद्धि (प्राप्ति) में सक्षम व सहायक हो।

वर्ष : 55 दिसम्बर 2022 अंक : 09

एकोऽप्यसौ रचयितुं जगदण्डकोटिं
यच्छक्तिरस्ति जगदण्डचया यदन्तः
अण्डान्तरस्थपरमाणु चयान्तरस्थं
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि।

अर्थात्

जो यद्यपि सर्वथा एक हैं उनके सिवा दूसरा कोई नहीं, फिर भी जो अपनी महिमा से करोड़ो ब्रह्माण्डों को रचने की शक्ति रखते हैं। यही नहीं ब्रह्माण्डों के समूह जिनके भीतर रहते हैं, साथ ही जो ब्रह्माण्डों के भीतर रहने वाले परमाणु-समूह के भी भीतर स्थित रहते हैं उन आदि पुरुष भगवान गोविन्द को मैं जानता हूँ।

श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र
सवांई (एत्मादपुर) आगरा

SIDDHYOG

HINDI MONTHLY

Propagating Yoga & Spiritual values

संस्थापक :

योग-योगेश्वर अनन्तश्री चन्द्रमोहन जी महाराज

सम्पादक :

आचार्य (डा.) दासलाल ब्रह्मचारी

संयुक्त सम्पादक
डॉ. विजय सिंह

प्रबन्ध सम्पादक :
समस्त योग प्रचार मण्डलों के अध्यक्ष एवं गुरु भाई-बहिन

अनुक्रमणिका

1.	विशेष लेख- *योगयोगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज*	3
2.	सम्पादकीय	9
3.	श्रीमद्भागवत् में योग-परिचर्चा- *डॉ. विजय सिंह*	13
4.	लीलाधारी की लीलाऐं- *जगदीश राए बंसल*	16
5.	योग-दीक्षा और माताऐं- *श्रीमती सरीता भारद्वाज*	21
6.	ईश्वर- *स्वामी श्री देवेन्दानन्द गिरि*	26
7.	हंसविद्या की महत्ता और उसकी प्राप्ति का साधन- *श्री पूर्णचन्द पन्त*	30
8.	प्रेम और शक्ति- *ज्योतिष कलानिधि श्री शिवनाथ मेहरोत्रा*	34
9.	मेरे गुरुदेव- *विजय शर्मा*	40

एक प्रति	: रु. 22.00
वार्षिक शुल्क	: रु. 180.00
त्रिवार्षिक	: रु. 400.00
आजीवन (10 वर्षीय केवल)	: रु. 1000.00

हमारा विशेष लेख–

वर्ण–भेद एवं योगाधिकार

योग योगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज

प्राय: यह देखने में आता है कि सर्व साधारण लोग अपने आपको ऊँचे से ऊँचे अधिकार में बढ़ा लेना चाहते है। बात ठीक भी है। प्राणी मात्र का मन प्रगतिशील है और सभी में प्रगतिशीलता होनी भी चाहिए। किन्तु हमारे शास्त्रीय संविधान में इसके लिए ' अधिकार ' का स्थान विशेष रूप से वर्णित है एवं इसका स्पष्टीकरण भी विशेषतया किया गया है। साथ हीसाथ रामायण, महाभारत और स्मृतियों में स्पष्टतया खोल–खोल करर समझाया गया है कि अमुक प्रकार के गुणशील स्वभाव वाला व्यक्ति अमुक–अमुक विद्या का अधिकारी है। हमें इस बात का विचार अपने मन में अवश्य रख लेना चाहिए कि हमारे आचार्यों ने 'अधिकार ' शब्द का अर्थ कार्यारम्भण सामर्थ्य अर्थात् कार्य करने की योग्यता के रूप में ग्रहण किया है। कार्यारम्भण सामर्थ्य का ठीक–ठीक अर्थ यही है कि जैसे पहली श्रेणी में पढ़ने वाला छात्र यदि पहली श्रेणी से पाठ्य–क्रम को विधि पूर्वक अध्ययन करता है, और उसमें योग्यता पाकर उत्तीर्ण हो जाता है तब वह दूसरी श्रेणी में प्रवेश कर पाने का अधिकारी बन जाता है। प्रथम कक्षा में उत्तमोत्तम ढङ्ग से उत्तीर्ण हो जाने के बाद भी – वह द्वितीय कक्षा का ही अधिकारी बनता है न कि वह अपनी प्रथम कक्षा के उपरान्त बी.ए., एम.ए. अथवा आचार्य का अधिकारी बन जाता है। जो लोग अपने बच्चों का अधिकार भेद के अनुसार अध्ययन नहीं कराते हैं उनके बच्चे मूर्ख रह जाया करते हैं, क्योंकि उनकी बुद्धि इतनी ऊँची शिक्षा को अपने अन्दर समावेशित कर ही नहीं सकती थी। इसी प्रकार से यौगिक शिक्षा या अन्य सभी प्रकार की शिक्षाओं में अधिकार–भेद बहुत ही आवश्यक है। इसी सिद्धान्त को लेकर के योगाधार भगवान पतंजलि जी ने मूढ़, क्षिप्त, विक्षिप्त, एकात्र आदि चित्त भूमियों का वर्णन किया है और यह श्री व्यास देव जी महाराज ने स्पष्टता खोलकर चित्त की स्थितियों को समझा दिया है। व्यास भाष्य में भगवान व्यास देव ने लिखा है –

चित्तं हि प्रख्याप्रवृतिस्थितिशीलत्वान् त्रिगुणम्, प्रख्यारूपं हि चित्तसत्त्व स्मूभ्या स्सृष्टमेंश्वर्य्यविपयप्रियं भवति, तदेव तमसाऽनुविद्धमधर्माज्ञानावेराग्यानेश्वर्योपगं भवति, तदेव प्रक्षीणमोहावरणं सर्वत: प्रद्योतमानमनुविद्धं रजोमात्रया धर्मज्ञानवेराग्येश्वर्य्योपगं भवति, तदेव रजोलेशमलापेतं स्वरूपप्रतिष्ठं सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रं धर्ममेघयानोपगं भवति, तत्परं प्रसङ्ख्यानमित्याचक्षतेध्यायिन:।

अर्थात् चित्त प्रख्याप्रवृत्ति स्थितिशील होने से त्रिगुणात्मक है। कभी–कभी चित्त जिस समय सतोगुण प्रधान रहता है और रजोगुण और तमोगुण गौण रहा करते है तब ऐसा चित्त ऐश्वर्य की प्यार करने वाला हुआ करता है। और वही चित्त जब तमोगुण प्रधान बनता है, एवं रजोगुण व सतोगुण उसमें गौण हो जाते हैं तब वह अधर्म, अवैराग्य एवं अनैश्वर्य को प्राप्त करने

वाला हुआ करता है, एवं बदल जाने के बाद वही चित्त जब रजोगुण की मात्रा से घिरा रहता है तब मोहावरण क्षीण हो जाने के बाद धर्म, ज्ञान, वैराग्य एवं ऐश्वर्य को प्राप्त करने वाला होता है, एवं जब इसमें ये रजोगुण की मात्रा भी खत्म जैसी हो जाती है तब धर्ममेघ समाधि का अधिकारी बन जाता है। यही ध्यान करने वाले योगियों का परम प्रसङ्ख्यान है। हमारा इन पंक्तियों के लिखने का अभिप्राय केवल मात्र एक है कि प्रख्याप्रवृत्तिस्थितिशील होने से चित्त जिस–जिस गुण की प्रधानता का ग्रहण करता है उसे ही अपने अधिकार भेद के अनुसार धर्म–ज्ञान वैराग्यादि प्राप्त किया करता है। जो चित्त सतोगुण प्रधान है वह धर्म ज्ञान वैराग्यादि को प्राप्त करेगा और जो चित्त तमोगुण प्रधान है वह अधर्म, अवैराग्य और अनैश्वर्य को प्राप्त करने वाला स्वभाव से बन जायेगा। इस ही प्रकार से वर्ण–भेद की भी बात है। भगवान श्रीकृष्ण ने अपनी श्रीमद्भगवद् गीता में अपने मुखारविन्द से स्वयं ये शब्द कहे हैं–

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं, गुणकर्मविभागशः।

तस्य कर्तारमपि मां, विद्धयकर्तारमव्ययम्।।

अर्थात् चारों वर्णों को गुण विभाग से मैंने पैदा किया यद्यपि मैं अकर्त्ता हूँ और अ–व्यय हूँ फिर भी गुण कर्मों के विभागों के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र आदि को मैंने स्वयं बनाया है। मेरे विचार में हमारे पाठक जो हमारे लेख पढ़ते रहते हैं इस बात का विचार अवश्य होगा कि किसी भी मनुष्य का जन्म किसी एक कर्म के अनुसार नहीं हुआ करता है जब कोई व्यक्ति जन्म लेने लगता है तब उसका एक मुख्य कर्म अग्रणी बनता है और उसके साथ के वैसे–वैसे बहुत से कर्म एक कर्माशय के सृजन का कारण बन जाते है। यदि कोई व्यक्ति किसी यज्ञ, दान, तप आदि के उत्कृष्ट कर्म को लेकर जन्म लेता है उस ही प्रकार के अनेकों कर्म उसके सहचारी बन जाया करते हैं– जैसे आजकल जिस पार्टी का मन्त्रिमण्डल बनता है उसी पार्टी से मन्त्रियों का चुनाव अपने अनुरूप प्रधानमंत्री या मुख्यमंत्री करता है। विपरीत पार्टियों के व्यक्तियों को यथासम्भव नहीं लेता है। इसी प्रकार से एक मुख्य कर्म अपने जैसे अनेकों सहचारी कर्मों को लेकर एक कर्माशय का निर्माण करता है और कर्माशय के अंदर जिस प्रकार का कर्म समूह एकत्र हुआ उसके अनुसार ही सहजा प्रकृति बना करती है। सहजा प्रकृति उसी सहज स्वभाव का नाम है जो मुनष्य के जन्म से लेकर मृत्यु–पर्यन्त कायम रहा करता है। यह बात सर्वसाधारण में प्रचारित है कि जब कोई किसी व्यक्ति से कोई काम कराना चाहता है तब कहता है कि क्यों जी मैं अमुक व्यक्ति से अपना अमुक कार्य कराना चाहता हूँ वह कैसे स्वभाव का है क्या वह मेरा काम कर देगा ? उस व्यक्ति के स्वभाव को जानने वाले लोग यह कहा करते हैं कि वह तो जन्म का ही महात्मा है वह तुम्हारा काम अवश्य कर देगा वह किसी के कार्य को मना नहीं करता और यदि वह व्यक्ति क्रूरकर्मा (तमोप्रधान) है तो उसे जानने वाले लोग यह कहा करते हैं कि अजी वह व्यक्ति तो जन्म से ही क्रूरकर्मा है वह तुम्हारा काम कैसे कर देगा ? इसी का नाम सहजा प्रकृति है। जिसकी साधारण भाषा में जन्मजात स्वभाव कहा करते है। यह स्वभाव अच्छे या बुरे कर्माशय के साथ मनुष्य के साथ पैदा हुआ करता है और जीवन–पर्यन्त साथ रहकर उसके साथ ही समाप्त हुआ करता है। इसी सिद्धान्त के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र आदि वर्ण का भी आधार है। भगवान ने अपने मुखारविन्द से – ' चातुर्वर्ण्य मया सृष्टं गुणकर्म विभागशः। '

यह शब्द कह कर के वर्ण–मीमांसा को बिल्कुल स्पष्ट कर दिया है। अर्थात् वर्ण व्यवस्था भी एक ईश्वरीय देन है। मनुष्य के अपने अधिकार की वस्तु नहीं है। जैसे–जैसे कर्म–समुच्चय को लेकर कर्माशय बनता है भगवत्कृपा से वैसे ही वर्ण में उस प्राणी का जन्म हुआ करता है। संसार में बहुधा लोग कहते हैं कि मनुष्य–मात्र की जाति एक है यह बात मनुष्यत्वेन बिल्कुल ठीक है। किन्तु जिस प्रकार वृक्षत्वेन वृक्षों की जाति एक है किन्तु आम, नीम, कदम आदि का भेद रहता ही है। और यदि आम का बीज बोया जाता है तो वृक्षत्वेन वृक्ष तो बनेगा ही ऐसा नहीं होगा कि वह शेर, चीता बन जायेगा। लेकिन वह आम का ही वृक्ष बनेगा नीम या बबूल का नहीं। इस ही प्रकार से मनुष्यत्वेन जाति एक होने पर भी वर्ण–भेद स्वाभाविक है और यह जन्मजात वस्तु है। ईश्वर की कृपापूर्वक ही मनुष्य ब्राह्मण वर्ण में पैदा होने लायक ब्राह्मणों में क्षत्रिय वर्ण में पैदा होना लायक क्षत्रिय में, वैश्य में पैदा होने लायक वैश्य में और शूद्र में पैदा होने लायक शूद्र वर्ण में ही पैदा होते हैं और जैसा–जैसा उनका बीज प्रधान होता है आगे भी उनकी सन्तान वैसी ही बनती जाती है। यह तो हो सकता है कि आम का वृक्ष पैदा हो जाने के बाद उसकी ठीक ढंग से सुरक्षा न की जाय, ठीक समय पर उसका खाद पानी आदि से सिंचाव न किया जाय तो वह कमजोर हो जाये सूख जाये, या फल में अन्य विकृति आदि आ जाये। परन्तु बीज बदलेगा नहीं। इसी सिद्धान्त के आधार पर भगवान ने इस बात को स्वीकार किया है कि – " **चातुर्वर्ण्य मया सृष्टं गुणकर्म विभागश:।** " अर्थात् चरों वर्णो को गुण–कर्म विभाग के अनुसार मैंने पैदा किया। गुण–कर्मो के विभाग के अनुसार ईश्वर प्रदत्त स्वभाव आदि मनुष्य का आजीवन साथ दिया करता है। इसी नियम को सामने रखते हुए भगवान श्रीकृष्ण ने अपनी श्रीमद्भगवत गीता के अठारहवें अध्याय में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य आदि के गुण–कर्मो का जन्मजात से पैदा होने वाले कहकर विभाजन किया है तथा बाद में यह निर्णय भी दे दिया है कि अपने–अपने कर्म–स्वभाव के अनुसार ही संलग्न होकर मनुष्य सिद्धि को प्राप्त कर सकता है। वह प्रकरण इस प्रकार है – पढ़िये श्रीमद्भगवत् गीता अध्याय अट्ठारह और श्लोक 41 से 45 तक–

ब्रह्मणक्षत्रियविशां, शूद्राणां च परंतप।
कर्माणिप्रविभक्तानि, स्वभावप्रभुवैर्गुणै:।।
शमो दमस्तप: शौचं, क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं, ब्रह्मकर्मस्वभावजम्।
शौर्यं तेजो धृतिदक्ष्यिं, युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं, कर्म स्वभावजम्।।
कृषि गौरक्ष्यवाणिज्यं, वैश्यकर्मस्वभावजम्।
परिचर्यात्मकं कर्म,शूद्रस्यापि स्वभावजम्।।
स्वे-स्वे कर्मण्यभिरत:, संसिद्धि लभते नर:।
स्वकर्मनिप्त: सिद्धि, यथा विन्दति तच्छृणु।।

अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्रादि के कर्म स्वभाव से पैदा होने वाले गुणों से बंटे हुए है। उनमें से शान्ति को धारण करना, इन्द्रियों पर दमन करना, तप और शुद्धि करना, मन में शान्ति और नम्रता रखना, ज्ञान–विज्ञान और आस्तिकता ये सभी कर्म ब्राह्मणों के अन्दर स्वाभाविक हैं। और शूरवीरता, तेज, धैर्य और चतुरता तथा युद्ध में निर्भयता, दान करना और अनुशासन भाव का होना क्षत्रियों के स्वाभाविक गुण हैं। कृषि कर्म, गौ सेवा, व्यापार ये वैश्यों के स्वाभाविक कर्म है। भगवान आज्ञा देते हैं–

स्वे–स्वे कर्मण्यभिरत:, सिद्धि लभते नरः।

अपने–अपने स्वभावानुसार कर्म में निरत रहने पर ही मनुष्य सफलता को प्राप्त किया करता है। हमारे भारतीय इतिहास में बहुत सी कथायें मिलती हैं जो मनुष्य के जन्म–जात स्वभाव की पूरी–पूरी पुष्टि करती है। जैसे आजकल के जमाने में बादशाह बाबर और महाराणा सांगा के बारे में जनश्रुति प्रसिद्ध है कि बादशाह बाबर ने किसी से सुना कि क्षत्रियों के शव भी लड़ाई कर सकते हैं। उसने जाकर महाराणा सांगा से कहा कि महाराणा हमने यह सुना है कि " क्षत्रियों के शव लड़ते हैं। " क्या यह बात सत्य है ? महाराणा ने बाबर को उत्तर दिया कि हाँ यह बात बिल्कुल सत्य है। बादशाह बाबर ने यह कहा कि मैं आज यह देखना चाहता हूँ कि क्षत्रियों के शव कैसे लड़ते है ? महाराणा साँगस ने जवाब दिया हाँ, हाँ शौक से देखिये। हम क्षत्रिय हैं इस बात को अवश्य दिखलायेंगे। इतना कहकर महाराणा साँगा ने विचार किया मैं किस नौजवान के सिर को काट दूँ जिससे कि बादशाह को यह विश्वास हो जाये– यथार्थ में बात यही है कि क्षत्रियों के शव लड़ा करते हैं। बहुत देर तक सोच–विचार कर महाराणा ने यही निश्चय किया कि मैं किसी और के बच्चे को क्यों मारूँ ? मैं अपने ही बच्चे का सिर क्यों न काट दूँ, जिससे बादशाह को यह ज्ञान हो जाये कि हाँ क्षत्रियों के शव लड़ा करते हैं। ऐसा निश्चय हो जाने के बाद महाराणा ने अपने बड़े लड़के का सिर काट दिया। किन्तु वह सिर कट जाने बाद थोड़ी देर तलवार घुमाकर गिर गया। बादशाह पर वार नहीं कर सका। बादशाह हँस पड़े और बोले शव लड़ते हैं यह बात मिथ्या है। महाराणा को भी मन में दुःख हुआ कि मेरी सन्तान इस प्रकार क्यों गिर गयी। वे रंग भवन में उठ गये और अपनी रानी की चोटी पकड़ कर कहा कि सत्य बता यह किसका बीज था ? यदि नहीं बताती है तो तेरी भी गर्दन मैं अभी उतारे देता हूँ। रानी ने विनम्रता के साथ हाथ जोड़कर कहा कि महाराज आप मेरी गर्दन उतार देना किन्तु मुझे अपनी बात कहलेने दो। महाराणा ने कहा कि अच्छा बताओ क्या बात है? रानी ने उत्तर दिया कि यह बीज तो आपका ही था किन्तु इसन दूध मेरा नहीं पिया था बांदी का दूध पिया था। यह दूसरा छोटा लड़का जो है यह आपका ही बीज है और दूध भी मेरा पीया है। यह अवश्य ही बादशाह पर 'वार' करेगा। निःसंकोच आप इसकी गर्दन काट दीजिए। महाराणा ने अपने बच्चे से पूछा बेटा तुम तैयार हो, उसने कहा हाँ पिताजी मैं बिल्कुल तैयार हूँ। महाराणा ने रंगभवन से बाहर आकर बादशाह से कहा मेरा बड़ा लड़का गिर गया है उसमें कमी थी किन्तु मेरा यह छोटा लड़का आपसे लड़ाई करेगा। बात निश्चित हो जाने के बाद महाराणा सांगा ने अपने छोटे बच्चे की गर्दन को काट दिया। उस बच्चे ने गर्दन कट जाने के बाद भी बादशाह पर इतने वेग से प्रहार किया कि बादशाह बड़ी कठिनाई से अपने प्राणों की रक्षा कर सका, और उसने खुले मन से कह

दिया कि आज मैंने भली प्रकार से देख लिया कि क्षत्रियों के शव कैसे लड़ते हैं ? ये गुण क्षत्रियों में ही स्वाभाविक है। किसी दूसरी जाति में यह बात हो ही नहीं सकती। इसी प्रकार से महाभारत में एक कथा मिलती है जो जन्मजात गुण–कर्म स्वभाव को प्रकट करती है। श्री परशुराम जी ब्राह्मणों को ही विद्या दिया करते थे एवं क्षत्रियों को नहीं। क्योंकि वह क्षत्रियों से विरोध मानते थे। कर्ण ने शिक्षा प्राप्त करने के लिए अपने आपको ब्राह्मण वेश में छुपा लिया, एवं श्री परशुराम जी से शिक्षा प्राप्त करने लगा। एक बार ऐसा एक अवसर आया, कि अकस्मात् श्री परशुराम जी कर्ण की जंघा पर सिर रखकर सोये हुए थे सहसा कर्ण की जंघा को एक कीड़े ने काट खाया और वह कीड़ा जंघा को काटते हुए आर–पार निकल गया किन्तु कर्ण पूरे साहस के साथ बैठा रहा उसने अपने पैर को हिलाया– डुलाया भी नहीं । गर्म–गर्म खून का स्पर्श से श्री परशुराम जी जगे और कर्ण से पूछा यह खून कहा से आया? क्या बात हुई ? कर्ण ने उत्तर दिया। प्रभो आप सोये हुए थे कीड़े ने मेरी जंघा पर काट दिया है आपकी निद्रा में कोई व्यवधान न हो इस कारण से मैंने आपको नहीं जगाया अब स्वतः ही आप जग गये हैं। इतने बड़े कड़े साहस को देखकर श्री परशुराम जी ने कर्ण से कहा इतना साहस ब्राह्मणों में नहीं हो सकता है। सच बतला तू कौन है ? तू ब्राह्मण बिल्कुल नहीं। तूने कपट से मुझसे विद्या प्राप्त की है। कर्ण ने सत्य को स्वीकार किया और कह दिया कि हाँ महाराज मैंने आपसे कपट तो किया है। मैं ब्राह्मण नहीं हूँ। मैं क्षत्रिय ही हूँ। आपसे विद्या प्राप्त करने के लिए ही मैंने यह रूपक बनाया था। प्रभो ! मुझे क्षमा कर दीजिए। परशुराम जी ने उसको क्षमा कर दिया। किन्तु साथ में यह दण्ड देकर क्षमा किया कि समय पर तू मेरी दी हुई विद्या को भूल जाया करेगा। अस्तु ! इन दो उदाहरणों से ब्राह्मण , क्षत्रिय आदि के जन्मजात गुण–कर्म आदि की सत्यता तो सिद्ध है ही। अब रही बात यह कि योग विद्या को प्राप्त करने के लिए किस प्रकार का अधिकारी होना चाहिए ? वैसे तो योग सार्वभौम विद्या है इसमें हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, यहूदी, पारसी सभी का प्रवेश हो सकता है और सभी इसको प्राप्त भी कर सकते हैं। किन्तु अधिकार भेद यहाँ भी अवश्य चलेगा ही चलेगा। जो व्यक्ति जिस गुण–कर्म स्वभाव के अनुसार इसका अधिकारी हो सकता है वही इसको पा भी सकता है। सिंहनी का दूध सोने के पात्र में ही रह सकता है। पीतल तांबे आदि के पात्रों में रह ही नहीं सकता। योग विद्या के अधिकारी तो सभी लोग हैं किन्तु हठयोग का अधिकारी कौन है ? राजयोग का अधिकारी कौन है ? लययोग का अधिकारी कौन है ? किसके अंदर जन्मजात गुण–कर्म स्वभाव इतने ऊँचे है कि वह इस विद्या को प्राप्त करने के लिए अपने आपको न्यौछावर कर डालें ? योग–विद्या का इतना बड़ा विस्तार है कि अपने अपने गुण–कर्मानुसार किसी की हठयोग में प्रवृत्ति हो सकती है, किसी की राजयोग में प्रवृत्ति हो सकती है, कोई लययोग का अधिकारी है एवं किसी का मंत्रयोग के द्वारा ही उत्थान हो सकता है। जो लोग ब्रह्म–कर्म वाले जन्मजात स्वभाव वाले हैं जिनका उत्तम वर्ण में जन्म हुआ है वे लोग हठयोग राजयोग तथा लय योग आदि के द्वारा अपने आपको बढ़ा सकते हैं। एवं जो लोग जन्मजात गुण–कर्म स्वभाव के अनुसार उत्तम अधिकारी नहीं है वे गुरुदेव के कथनानुसार मन्त्रयोग में प्रवेश करके शनैः शनैः अभ्यास करके समाधि द्वार तक पहुँच सकते हैं। किन्तु उनको उच्च स्थिति तक पहुँचते–पहुँचते कुछ समय लग जायेगा। ऐसी बात नहीं है कि वह योग में बढ़ नहीं सकते। यह तो स्वयं गुरुदेव समझेंगे कि कौन किस प्रकार से चलने का अधिकारी है। सर्व समर्थ

गुरुदेव जन्मजात गुण–कर्म स्वभाव के अनुसार जैसा जो अधिकारी है उसको उसके अनुसार शिक्षा देकर योग के चरम लक्ष्य को प्राप्त करा ही दिया करते है, यदि साधना करने वाला व्यक्ति गुण कर्म स्वभावनुसार बतलाये रास्ते पर उनकी आज्ञा को मानकर चलता चला जाये। अधिकार भेद पर हमने ' सिद्धयोग' के किसी अंक में एक लेख और दिया था और उसी लेख को इससे आगामी अंक में कौन अधिकारी किस प्रकार की योग–साधना में प्रवेश करके अपने आपको योग की चरमावस्था तक ले जा सकता है। विशेष रूपेण स्पष्ट करेंगे। आशा है विज्ञ साधक इन भावों को पढ़कर अवश्य लाभ उठायेंगे।

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।

सर्वेभद्राणि श्यन्तु, माकश्चिद् दुःखभाग्भवेत्।

सम्पादकीय–

सांख्ययोग के पच्चीस तत्व तथा उनकी साधना

आचार्य (डॉ०) रामलाल शर्मा

भारतीय षट् दर्शनों में सांख्य एवं योग–दर्शन को मूर्धन्य स्थान प्राप्त है। इसका कारण यह है कि दर्शन के सिद्धान्तों पर चल कर मनुष्य शीघ्र एवं अवश्य मोक्ष को पा जाता है। हमारे प्राचीन ऋषि–मुनियों ने इसी सांख्य–योग का अवलम्बन लेकर परम तत्व को पाया है। सांख्य–दर्शन सर्व दर्शनों में प्राचीनतम् है जैसा कि कहा गया है –

" आदि विद्वाने निर्माण चित्तमधिष्ठाय कारुण्याद् भगवान् परमर्षि रासुरये तंत्रं प्रोवाच। "

अर्थात् आदि विद्वान महर्षि भगवान कपिल देव जी ने करुणा करके आसुरि को इस दर्शन का उपदेश दिया था, इससे सांख्य दर्शन की गरिमा स्पष्ट है। सांख्य व योग को एक ही दर्शन के रूप में माना जाता ह।

एकं सांख्यम् च योगं च यः पश्यति स पश्यति।
यत सांख्यैः प्राप्यते स्थानम् तद्योगैरपि गम्यते।।

इत्यादि भगवान के वाक्यों से इन दोनों दर्शनों की मौलिक अभिन्नता का प्रमाण मिलता है। वस्तुतः सांख्य व योग एक ही दर्शन के सैद्धान्तिक व क्रियात्मक पहलू हैं। सांख्य–दर्शन सिद्धान्त परक है तथा योग–दर्शन क्रियात्मक पक्ष का है। योग–दर्शन के सिद्धान्त सांख्य सूत्रों पर आधारित हैं तथा सांख्य सूत्रों की सार्थकता योग सूत्रों से ही है। संक्षेप में कह सकते हैं कि यह दोनों एक–दूसरे के पूरक हैं। उपनिषदों में भी सांख्य एवं योग अनेक स्थलों पर समस्त पद के रूप में व्यवहृत हुए हैं।

यदि योन्याः प्रमुच्येऽहं तत्साख्यं योगमभ्यसे।

– गर्भोपनिषद

अन्यत्र भी–

तत्कारणं सांख्य योगाधिगम्यं, ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः।

–श्वेताश्वतरोपनिषद

उपरोक्त प्रमाणों से सांख्य योग की अभिन्नता अभिव्यक्त होती है। अतः योग मार्गावलम्बी के लिए यह आवश्यक है कि वह सांख्य सूत्रों को भी भली प्रकार से समझ लें।

सांख्याचार्यों का यह डिमडिम उद्घोष है कि इस दर्शन में वर्णित पच्चीस तत्वों का ज्ञान हो जाने पर मनुष्य मोक्ष को पा जाता है। उनके अनुसार–

पञ्च विंशति तत्वज्ञो, यत्र तत्र आश्रमे वसेत्।

जट, मुण्डी, शिखी वापि, मुच्यते नात्र संशयः।।

अर्थात् सांख्य–योग के पच्चीस तत्वों को जान लेने वाला चाहे वह जटाधारी हो, मुण्डन कराया संन्यासी हो चाहे शिखावाला ब्रह्मचारी हो, अवश्य मुक्ति पा जाता है, इसमें कोई संशय नहीं है। साँख्य–दर्शन में एक सूत्र है– ' ज्ञानान्मुक्ति ' अर्थात् इन पच्चीस तत्वों के ज्ञान से मुक्ति मिलती है। यहाँ पर ज्ञान का तात्पर्य विवेक ज्ञान से ही है।

सांख्य योगोक्त पच्चीस तत्व इस प्रकार हैं– पुरुष (आत्मा) मूल प्रकृति (अव्यक्त) महत्तत्व (बुद्धि तत्व), अहंकार, पांच तन्मात्रायें मन सहित एकादश इन्द्रियाँ तथा पञ्च महाभूत क्रम से हैं। इस प्रकार कुल मिलाकर ये पच्चीस तत्व हैं। इनमें से पुरुष न प्रकृति है न विकृति मूल प्रकृति, प्रकृति है। महतत्व, अहंकार व पञ्च तन्मात्राएँ प्रकृति विकृति दोनों हैं अर्थात् यह स्वयं किसी के द्वारा उत्पन्न भी होते हैं तथा दूसरों को उत्पन्न भी करते हैं। ग्यारह इन्द्रियाँ तथा पञ्च महाभूत केवल विकृति ही हैं। क्योंकि ये किसी को उत्पन्न नहीं करते, परन्तु स्वयं दूसरे से उत्पन्न होते हैं। अहंकार से ग्यारह इन्द्रियाँ तथा पाँच तन्मात्राओं से पाँच महाभूत उत्पन्न किये जाते हैं। सांख्यकारिका की एक कारिका से यह स्पष्ट है–

मूल प्रकृतिरविकृति, महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त।

षोडकस्तु विकारो, न प्रकृति न विकृति पुरुषः।

श्रीमद्भगवद् गीता में भी इन तत्वों का वर्णन है–

भूमिरापोऽनलो वायुः, खं मनो बुद्धि रेव च।

अहंकारं इतीयं मे, भिन्ना प्रकृतिरष्टधा।

अपरेयमितस्त्वन्यां, प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।

जीव भूतां महावाहो, ययेदं धार्यते जगत्।।

श्रीमद्भगवद्गीता के तृतीय स्कन्ध में भी इन तत्वों का विस्तृत रूप से प्रतिपादन किया गया है।

सांख्य–दर्शन में वर्णित इन पच्चीस तत्वों के साक्षात्कार का विधि–निरूपण योग–सूत्रों द्वारा बहुत सुविस्तृत रूप से हुआ है। सम्पूर्ण योग–दर्शन इन तत्वों के साक्षात्कार विधि–निरूपण की विस्तृत व्याख्या करता है।

सांख्य–योग के अनुसार किसी भी वस्तु का ज्ञान हमें तभी हो पाता है, जब चित्त (बुद्धि) उस पदार्थ के आकार की हो जाती है। इस प्रकार प्रत्येक वस्तु ज्ञान के लिए चित्त की पदार्थाकारकारिता आवश्यक है। लौकिक वस्तु ज्ञान में यह तदाकारकारिता पूर्णरूप से न होकर आंशिक रूप में होती है, क्योंकि बुद्धि रजोगुण तमोगुण से आच्छन्न होती है। परन्तु यौगिक तदाकारकारिता काल में सत्वगुण की प्रबलता के कारण वस्तु का यथार्थ ज्ञान होता है।

योग–दर्शन में इस तदाकारकारिता के लिए समापत्ति शब्द प्रयुक्त हुआ है। योग–दर्शन का यह विशिष्ट व प्रचलित शब्द है। इसे तद्रुप या तन्मयता भी कहते हैं।

उपरोक्त पच्चीस तत्वों में यह समापत्ति विषय भेद से ग्राह्य, ग्रहण तथा गृहीतृ तीन

प्रकार का होता है। भगवान् पतंजलि देव ने समाधिपाद में एक सूत्र के द्वारा इसी ग्राह्य, ग्रहण गृहीतृ समापत्ति का वर्णन किया है—

क्षीण वृत्तेरभिजातस्येव मणोर्ग्रहीतृ ग्रहण ग्राह्येषु तत्स्थतदंजनता समापत्ति।

सूत्रार्थ यह है श्रेष्ठ मणि के समान क्षीण वृत्ति (राजस–तामस) वाले तथा ग्रहीता ग्रहण और ग्राह्य विषयों में चित्त का उनके आकार को ग्रहण कर लेना समापत्ति है। इनमें से सर्व प्रथम ग्राह्य विषयक समापत्ति का वर्णन करते हैं ग्राह्य विषयक समापत्ति के अन्तर्गत सूक्ष्म तन्मात्राएँ व पञ्च महाभूत आते हैं। इन्द्रियाँ ग्राह्य विषयक समापत्ति में नहीं आती क्योंकि इन्द्रियों से इन्द्रियों के गोलक का ग्रहण न करके इनकी अतीन्द्रिय शक्ति का ग्रहण किया जाता है। इस प्रकार ग्राह्य विषयक समापत्ति दो प्रकार का हुआ स्थूल ग्राह्य विषयक (पंचभूत सम्बन्धी) तथा दूसरा सूक्ष्म तन्मात्र विषयक समापत्ति। स्थूल ग्राह्य विषयक समापत्ति को वितर्कानुगत समाधि के नाम से जाना जाता है। इसमें चित्त स्थूल महाभूतों के आकार वाला होकर स्थूल भूताकार भासित होता है। सूक्ष्म ग्राह्य विषयक समापत्ति को विचारानुगत समाधि कहते हैं। इस सूक्ष्म ग्राह्य समापत्ति में चित्त पञ्च तन्मात्राओं के स्वरूप का भासित होता है।

संक्षेप में हम कह सकते है कि साधक वितर्कानुगत समाधि के अन्तर्गत होता है, तब उसे पञ्च भौतिक दृश्य दिखाई देते हैं। जब वह विचारानुगत संप्रज्ञात में पहुँचता है, तब दिव्य स्पर्श, दिव्य रसादि का साक्षात्कार करता है। ये तन्मात्राएँ ही इन्द्रियों के विषय कहलाते हैं। दिव्यादिव्य भेद से यह प्रत्येक दो प्रकार के होते हैं।

ग्रहण विषयक समापत्ति के अन्तर्गत इन्दियों को ग्रहण किया जाता है। इस ग्रहण विषयक समापत्ति के अन्तर्गत इन्द्रियों के अतीन्द्रिय स्वरुप का साक्षात्कार किया जता है। मानव शरीर में इन्द्रियाँ ही देव है। ' **द्योतनाद् देवा :** ' प्रकाश्न करने से यह देव कहे जाते हैं। ग्रहण समापत्ति में इन्द्रियों के प्रकाशमय स्वरूप का दर्शन होता है। इस भूमिका में साधक को देदीप्यमान देवों के दर्शन हुआ करते हैं। इसमें साधक अत्यधिक आनन्द–अनुभव करता है, इसलिये इसे आनन्दानुगत सम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं।

" **गृहीतृ** " विषयक समापत्ति का विषय अस्मितास्पद पुरुष ही है। " **दृग्दर्शन शक्त्योरेकात्म तैवऽस्मिता।** " द्रष्टा पुरुष व दर्शन–शक्ति बुद्धि के एकाकार जैसा भासित होना अस्मिता है। अस्मितानुगत पुरुष विषयक जो समापत्ति है, वह गृहीता विषयक समापत्ति है। सम्प्रज्ञात समाधि का विषय अस्मितास्पद पुरुष ही है। स्वरूपावस्थित पुरुष इसका विषय नहीं हो सकता।

ईश्वर, मुक्त पुरुष आदि में जो समापत्ति होती है, वह इसी ग्रहीतृ समापत्ति के अन्तर्गत है। मुक्त पुरुष को समापत्ति का विषय बनाने से साधक योगी का चित्त मुक्त पुरुष के ग्रहीताकार का भासित होता है। एकाग्र भूमि में चित्त के द्वारा जिस भी वस्तु का ध्यान हो सकता है, इन्हीं तीन प्रकार की समापत्तियों के अन्तर्गत आ जायेगा। कारण कि ग्राह्मा ग्रहण और ग्रहीता को छोड़कर कोई भी व्यक्त भाव पदार्थ नहीं है, जिसका ध्यान हो सके।

अस्मितानुगत सम्प्रज्ञात समाधि से होने वाली निर्विचार समापत्ति के सिद्ध होने पर अध्यात्म प्रसाद प्राप्त होता है। तदनन्तर ऋतम्भरा प्रज्ञा का उदय होता है, जिससे विवेक ख्याति

प्राप्त होती है, जो पर–वैराग्य का हेतु है–

ज्ञानस्यैव पराकाष्ठा पर–वैराग्यम्

पर–वैराग्य से कैवल्य लाभ अवश्यम्भावी है।

इस प्रकार सांख्य–योग में वर्णित पच्चीस तत्वों का साक्षात्कार करके " सत्व पुरुषऽन्यताख्याति " प्रकृति पुरुष का अलग–अलग ज्ञान होता है, जिससे साधक मुक्त हो केवलीभाव में स्थित रहता है। अत: प्रत्येक मनुष्य को–

यदि योन्याः प्रमुच्येऽहं तत्सांख्यं योगमभ्यसे।

इस प्रकार की भगवान् से ही गई प्रतिज्ञा को अवश्य–अवश्य पूरा करना चाहिए।

ॐ श्री रामलाल प्रभवे नमः

श्रीमद्भागवत में योग-परिचर्चा

डॉ. विजय सिंह

प्रज्ञावान उद्धव जी ने जगद्गुरु श्री कृष्ण जी से पूछा– भगवन ! यह आत्मा गुणों से निर्लिप्त है, देह से सम्पर्क रहित है, फिर इसे बन्धन की प्राप्ति कैसे होती है ? बद्ध और मुक्त पुरुष कैसा बर्ताव करता है? वह अपनी दैनिक क्रियाये कैसे करते है ? एक ही आत्मा गुणों के संसर्ग से बद्ध और असंग होने पर नित्य मुक्त कैसे हो जाता है। प्रभो! इस बात को लेकर मुझे भ्रम हो रहा है। आप कृपा कर मेरे भ्रम को नष्ट करें। इन तात्विक प्रश्नों का उत्तर भगवान श्री कृष्ण ने ग्यारहवें अध्याय में दिया है।

भगवान श्री कृष्ण कहते हैं – प्यारे उद्धव ! बद्ध और मुक्त वस्तुत: है ही नहीं माया का इन्द्रजाल जैसा है। मेरा न मोक्ष है, न तो मेरा बन्धन ही है। शरीर धारियों को मुक्ति का अनुभव कराने वाली आत्मविद्या और बन्धन का बोध कराने वाली अविद्या, ये दोनों मेरी अनादि शक्तियाँ हैं। मेरी माया से ही इनकी रचना हुई है। इनका वास्तविक अस्तित्व नहीं है। जीव मेरे अंश से कल्पित हुआ मेरा ही स्वरूप है। आत्मज्ञान से सम्पन्न होने पर मुक्त कहा जाता है और आत्मज्ञान नहीं होने पर बद्ध।

विद्याविद्ये मम तनू विद्धयुद्धव शरीरिणाम्।
मोक्षबन्धकरी आद्ये मायया में विनिर्मित।। 3।।
एकस्यैव ममांशस्य जीवस्यैव महामते।
बन्धोऽस्याविद्ययानादिर्विद्यया च्र तथेतर:।। 4।।

अ. 11, स्कं. 11

उद्धव ! ऐसा समझो शरीर एक वृक्ष है, इसमें हृदय रूपी घोंसले में जीव और ईश्वर नाम के दो पक्षी रहते हैं। निवास करना लीला ही है। दोनों समान होते हुये भी जीव शरीर रूपी वृक्ष के फल सुख,दु:ख भोगता है परन्तु ईश्वर उनसे असंग साक्षीमात्र रहता है। अभोक्ता ईश्वर की विलक्षणता यह है कि वह, ज्ञान, ऐश्वर्य, आनन्द और सामर्थ्य आदि में जीव से बढ़कर है। जीव अविद्या ग्रस्त है ईश्वर विद्यास्वरूप होने के कारण नित्य मुक्त है।

मुक्त पुरुष शरीर में रहते हुए भी उसमें स्वरूप ज्ञान होने के कारण सम्बन्ध रहित होता है। गुणों की प्रेरणा से ही शारीरिक, मानसिक कर्म होते हैं। अज्ञानी अहंकार वश अपने को कर्ता समझता है और बँध जाता है। विवेकी पुरुष समस्त विषयों से विरक्त रहता है। ऐन्द्रिक, मानसिक होने वाले कर्मों को गुणों द्वारा किया हुआ जानता है। अत: कर्म–फल बन्धन में नहीं बँधता। ऐसे विवेकी जन विमल बुद्धि की तलवार असंग भावना रूपी धार से सभी संसय को काट देते हैं। जिनके प्राण, इन्द्रिय, मन और बुद्धि की समस्त चेष्टायें बिना संकल्प के होती हैं, वे

देह में होते हुये भीउसके गुणों से मुक्त होते है।

यस्य स्युर्वीतसङ्कल्पाः प्राणेन्द्रियमनोधियाम्।

वृत्तयः स विनिर्मुक्तो देहस्थोऽपि हि तद्गुणैः।। 14।।

अ. 11 स्क.11

ऐसे मुक्त पुरुष सताये जाने से न दुःखी होते हैं और न पूजा सत्कार से सुखी होते हैं। वे न किसी की अच्छी बात सुनकर उसकी सराहना करते हैं और न बुरे काम करने वालों की निन्दा करते हैं। वे व्यवहार में समान वृत्ति रखकर आत्मानन्द में मग्न रहते हैं। उद्धव ! कोई वेदों का तो पारगामी विद्वान हो, परन्तु परब्रह्म के ज्ञान से शून्य हो। ऐसों के ज्ञान का कोई फल नहीं है, जैसे बिना दूध की गाय का पालनहार। अतः उद्धव ! आत्मजिज्ञाशा द्वारा अनेकता का जो भ्रम है, उसे दूर करके मुझ परमात्मा में अपना मन लगाकर संसार के त्योहार से उपराम हो जाना चाहिये।

यदि तुम अपना मन परब्रह्म में स्थिर न कर सको, तो सारे कर्म निरपेक्ष होकर मेरे लिए ही करो। मेरे आश्रित रहकर मेरे ही लिये धर्म, काम और अर्थ का सेवन करना चाहिए। जो ऐसा करता है, उसे मुक्त अविनाशी पुरुष के प्रति अनन्य प्रेम मयी भक्ति प्राप्त हो जाती है।

यद्यनीशो धारयितुं मनो ब्रह्मणि निश्चलम्।

मयि सर्वाणि कर्माणि निरपेक्षः समाचर।। 22।।

मदर्थे धर्मकामार्थनाचरन् मदपाश्रयः।

लभते निश्चलां भक्तिं मय्युद्धव सनातने।। 24।।

अं. 11, स्वं. 11

उद्धव जी ने पूछा– भगवन् ! संत पुरुषों का क्या लक्षण है ? आप चराचर के स्वामी मुझे भक्ति और भक्त का रहस्य बतलाइये। आप ही यह रहस्य बता सकते हैं।

भगवान श्री कृष्ण ने कहा– प्रिय उद्धव ! मेरा भक्त कृपा की मूर्ति होता है। उसके जीवन का सार सत्य है। वह समदर्शी होता है। वह गम्भीर, भूख–प्यास, शोक–मोह और जन्म–मृत्यु को अपने वश में किये रहता है। स्वयं अमानी परन्तु दूसरों का मान करता है। मेरे बारे में दूसरों को निपुणता से समझाता है। उसके हृदय में करुणा भरी होती है। मेरे तत्व का उसे यथार्थ ज्ञान होता है। उद्धव ! मैं कौन हूँ, कितना बड़ा हूँ, कैसा हूँ – इन बातों को जाने अथवा न जाने परन्तु जो अनन्यभाव से मेरा भजन करता है, वे मेरे विचार से मेरा परम भक्त है।

मेरी कथा सुनने में श्रद्धा रखे और निरन्तर मेरा ध्यान करता रहे। जो कुछ मिले, वह मुझे समर्पित कर दे और दास्यभाव से मुझे आत्मनिवेदन करे।

मत्कथा श्रवणे श्रद्धा मदनुध्यानमुद्धव।

सर्वलाभोप हरणं दास्येनात्मनिवेदनम्।। 35।।

–अ. 11, स्कं. 11

अभिमान न करे, दम्भ न करे साथ ही अपने शुभ कर्मों का प्रचार न करे। प्रिय उद्धव ! मेरे चढ़ावे की, अपने काम में लाना दूर, मुझे समर्पित दीपक के प्रकाश से भी अपना काम न

करे। किसी दूसरे देवता की चढ़ायी हुई वस्तु मुझे न चढ़ावे।

भाई–बन्धु के समान मेरे भक्तों का सत्कार करे तथा निरन्तर ध्यान में लगे रहने से हृदयाकाश में मुख्य प्राण समझने से मेरी आराधना की जाती है।

सतसंग और भक्तियोग– इन दो साधनों का एक साथ अनुष्ठान करते रहना चाहिए। संसार सागर से पार होने का प्राय: इसके सिवा कोई उपाय नहीं है। मैं सन्त पुरुषों में हूँ और वे मेरे में हैं ऐसा ही जानो।

प्रायेण भक्तियोगेन सत्संगेन विनोद्धव।

नोपयो विद्यते सध्य्रङ्प्रायणं हि सतामहम् ।। 48 ।।

अं.11, स्कं.11

ॐ श्री रामलाल प्रभवे नमः

लीलाधारी की लीलाएँ

जगदीश राए बंसल 'अधम', मो. 9212434003

प्रातः स्मरणीय गुरुदेव भगवान अनन्त विभूषित योग योगेश्वर श्री चन्द मोहन जी महाराज अपनी भव्य लेखनी से अवगत कराते रहे हैं कि मेरे सद्गुरुदेव अर्थात् हमारे – आपके दादा गुरुदेव अखिल कोटि ब्रह्माण्ड नायक, जगत नियन्ता गुरुओं के महा गुरु अखण्ड ज्योति प्रभु श्री रामलाल जी महाराज की महता को संसार में योग प्रचार करने के भाव से उनकी दिव्य एवं चमत्कारी लीलाओं को, जिन्हें मैंने स्वयं अपनी आँखों से देखा है, जनकल्याणार्थ लेखनी बद्ध प्रकाशित करके लोक के सम्मुख लाने का प्रयास है। इन कृपाओं का पठन करने वाले भक्तों के मन में आनन्दकन्द श्री प्रभु जी के चरण कमलों में निष्ठा दृढ़ होगी और वे कल्याण को प्राप्त होंगे।

लीलाएँ –

मेरे गुरुदेव योगयोगेश्वर अनन्त प्रभु श्री रामलाल जी महाराज जब नैपाल– हिमालय के सिद्धाश्रम में वास करके, पृथ्वी के सुख–दुख, जीवन मरण आदि दुन्दों में फंसे कुलबुलाते हुए प्राणियों की दुख निवृति के लिए इस भूतल पर पधारे तो भ्रमण करते–करते कुम्भ मेले पर हरिद्वार आन पधारे। उस मेले में आए हुए उनके परिजनों ने उन्हें पहचान लिया। सारे देश में योग का डंका बजाने के निमित, अपने स्वजनों के आग्रह को स्वीकार कर वे स्वगृह अमृतसर लौट आए। उसी समय से श्री प्रभु जी ने अपने विरक्त वेश को त्याग कर, साधारण पंडित के वेश में रहना आरम्भ किया ताकि कोई उनके वास्तविक स्वरूप एवं सामर्थ्य को पहचान न सके। उस समय आनन्द कन्द, योग योगेश्वर जी महाराज, अमृतसर में भाई के कटरे में निवास करते थे। उनके प्रखर तेज से आकर्षित हो कर कितने ही अनुभवी श्री प्रभु जी के दर्शनार्थ उनके घर आया करते थे। कृपा निधि जी की कृपा से जिन लोगों को दिव्य अनुभूतियाँ होती थी, वे भक्त जन श्री प्रभु जी का पूजन एवं दिव्य स्तुतियाँ सदैव ईश्वरीय बुद्धि से किया करते थे।

इस प्रकार पण्डित वेश में छिपे होने पर भी अनेकों प्राणी उनकी शक्ति–सामर्थ्य से परिचित हो जाते थे। इस प्रकार लहर के चलते उनके श्री चरणों की महिमा नगर के घर–घर में फैल गई। क्योंकि –

यस्मिन देशे वसेत योगी ध्यान योग विचक्षणः।

सोऽपिदेशः भवेत पूतः किं पुनास्तस्य बाँधवाः।।

दूसरी ओर कुछ मन्द बुद्धि ईर्ष्यालु लोग उन कृपा निकेतन श्री रामलाल जी महाराज से प्रतिस्पर्धा रखते थे। ऐसे दुष्ट लोगों का विचार था कि यह सब इस ब्राह्मण का पाखण्ड है। हम में और इस में क्या अन्तर है ? वे अज्ञानी श्री प्रभु जी के विशुद्ध आत्म प्रकाश से अनभिज्ञ यह सोचते थे कि कोई करनी वाला साधु मिल जाए तो इस ढोंगी के प्रपंच का निराकरण कराएं।

जाकी रही भावना जैसी।

प्रभु मूरति देवी तिन्ह तैसी।।

बात यह हुई कि अमृतसर में दूर्याना नामक स्थान पर श्री लक्ष्मी नारायण जी का एक विशल मन्दिर है। इस मान्यवार मन्दिर के सामने एक प्राचीन श्री भैरव जी का सुन्दर मन्दिर बना हुआ है। यहाँ अनेक साधू–महात्मा श्री भैरव जी की उपासना एवं सिद्धि के लिए आया करते थे दीपावली के अवसर पर तो देश– विदेश से साधुओं का यातायात अधिक संख्या में रहता है। श्री भैरव जी के मन्दिर में अनायास ही ऐसे महात्मा आए, जिन्होंने अथक प्रयास से भैरव जी को सिद्ध किया हुआ था। ये महात्मा, लोगों से मान–सम्मान प्राप्त करने हेतु अपने सिद्ध किए गए भैरव जी की शक्ति से लोगों के कई अच्छे – बुरे कार्य करते रहते थे। संयोग ऐसा बना कि प्रभु जी से ईर्ष्या रखने वाले उन लोगों ने अपने लिए उपयुक्त अवसर आया जान कर अत्यन्त विनम्रता से उन महात्माओं से प्रार्थना की कि यहाँ पर एक साधारण गृहस्थ ब्राह्मण ने बड़ा दम्भ रचाया हुआ है। उसके शिष्य उस पाखण्डी को साक्षात् भगवन सदाशिव, विष्णु आदि कह कर उसकी पूजा अर्चना करते है। न जाने उन्हें कौनसी सिद्धि है, जिसकी सिद्धि से हर आने – जाने वालों को वो अपना बना लेते हैं। आप अपनी योग शक्ति से उसके इस प्रपंच को छिन्न–भिन्न करके जन साधारण का भला कीजिए। उसके इस पाखण्ड का निर्माण हो जाने से हम आपका तन–मन–धन से अधिक से सेवा करेंगे।

गिर गिट सा रंग बदलने की कला इनको भाई है।

बिना ही रंग गुलाल की इन्होंने होली मनाई है।।

महात्माओं ने इन लोगों का दुराग्रह स्वीकार कर लिया और बड़े अहंकार में भर कर श्री प्रभुजी के दरबार–भाई के कटरे में आ पहुँचे। एक बड़े महात्मा के मन में भैरव की शक्ति का बड़ा अभिमान था। इसी अहंकार के वशीभूत होकर महात्मा ने दरबार में पहुँचते ही बड़े अपशब्दों का प्रयोग आरम्भ कर दिया।

नींब के वृक्ष से कभी मधु नहीं टपकता।

महात्मा– अरे ब्राह्मण ! यह क्या पखण्ड फैला रखा है ? तू स्वयं को ईश्वर कह कर पुजवाता है ? यह परपंच छोड़ कर तू शीघ्र यहाँ से दूर हो जा अन्यथा हम अपनी योग शक्ति से तुम्हें सीधा कर देंगे। लीला निकेतन प्रभु श्री राम लाल जी महाराज उसके अज्ञान पर अपने मन ही मन में हंसे परन्तु उससे अनजान जैसा व्यवहार करते रहे। क्योंकि जहर की काट नारीयल का पानी नहीं होता। अतः उसके कटु वचनों से क्षुब्ध हुए बिना, बड़े धीर एवं संयम वाणी में बोले– अरे महात्मन , हम तो साधारण ब्राह्मण हैं और आप बड़े महात्मा हैं। साधु तो स्वभाव से दयालु होते हैं। ऐसे कटु शब्दों का प्रयोग आपको शौभा नहीं देता।

हरे भरे खेत में, सूखी डालियाँ नहीं होती।

सिद्धसन्तों की जुबाँ पर, गालियाँ नहीं होती।।

श्री प्रभुजी द्वारा इतना मान दिए जाने से भी वह दुर्मन शान्त नहीं हुआ और पूर्व वत

कुछ–कुछ कहता रहा, परन्तु लीलाधारी श्री प्रभु जी शान्त रहे। वे जानते थे कि यह थोड़ी देर में बकवास करके शान्त हो जाएगा और उसके भैरवजी की शक्ति भी यहाँ व्यर्थ ही रहेगी। अन्तत: इस साधु को यहाँ से निराश लौटना ही पड़ेगा।

योग योगेश्वरों वाली भाषा की गहराई का मिठास अनुवाद में नहीं लिखा जा सकता।

उस समय हमारे गुरु भाई ब्रह्मचारी श्री गोपालानन्द जी भी श्री चरण कमलों के समीप ही बैठे थे। गुरुदेव भक्ति से ओत–प्रोत ब्रह्मचारी उस दुर्मन महात्मा की कटुता सहन न कर सके और श्री करूण निधान प्रभु जी के आन्तरिक भावों का विचार किए बिना ही ताड़नात्मक स्वय में उस महात्मा से बोले– अरे नीच मैं तुम्हें और तुमको यहाँ भेजने वालों को खूब जानता हूँ। इन करूणार्णव त्रिलोकी नाथ की दिव्य शक्ति को तुम क्या समझ सकते हो? क्या देख सकते हो ? तुम जैसों के ऐसे भाग्य कहाँ हैं कि इनके दिव्य स्वरूप के दर्शन कर सको। फिर सम्मुख बैठी एक आठ वर्ष की बालिका की ओर संकेत करते हुए ब्रह्मचारी जी ने कहा– अरे तू इन शक्तिमान की शक्ति को क्या देखेगा ? यह बालिका ही तुझे सब कुछ दिखा देगी। अब ज्यों ही उस महात्मा ने आँख उठा कर देखा तो बड़े आश्चर्य में पड़ गया। वह दुमर्न क्या देखता है कि यह बालिका नहीं अपितु साक्षात अष्ट भुजी महामाया भगवती दुर्गा देवी एक दिव्य सिंहासन पर बैठी है। महात्मा के द्वारा तीव्र–तप उपासना के बाद सिद्ध किया हुआ भैरव जी उस महात्मा का संग छोड़ कर झट अपनी माँ दुर्गा माता की गोद में बैठ गया। भैरव जी ने भगवती माता से कर बद्ध प्रार्थना की, माँ क्या आज्ञा है ? क्या सेवा करूँ ? माँ भगवती देवी ने प्रसन्न हो कर आज्ञा दी– बेटा भैरव, इस दुमर्न महात्मा को तीव्र ताड़ना देकर यहाँ से भगा दो। इस दुर्मति ने नित्य चेतन–पर ब्रह्म का अपमान किया है।

माँ भगवती दूर्गा का आदेश पते ही श्री भैरव जी ने उस महात्मा का त्रिशूल उठा कर उसे पीटना आरम्भ कर दिया। ताड़ना से व्याकुल महात्मा ने जब श्री प्रभु जी की ओर अपनी रक्षा के अभिप्राय से देखा तो उसे श्री प्रभु जी का सदा शिव रूप दिखाई दिया। यह अलौकिक दृश्य देख कर उसे वास्तविकता का बोध हुआ। महात्मा ने बिना विलम्भ किए उन अगाध कृपा सागर श्री प्रभु के चरण कमलों में विनम्र कर बद्ध प्रार्थना करना प्रारम्भ किया कि " हे प्रभु जी मैं आपके इस योगेश्वर्य को नहीं जानता था। अत: अज्ञान में कहे गए कटू शब्दों के लिए बारम्बार क्षमा प्रार्थी हूँ। हे दया निधे, इस भैरव की कृपा से ही मेरा संसार में सम्मान है, अत: श्री भैरव जी को लौटाने की कृपा करें.....।

अकारण दयालु प्रभु श्री राम लाल जी महाराज, महात्मा की करूण पुकार से द्रवित हो गए। उन्होंने महात्मा को भैरव लौटा दिया और उसे तुरन्त अमृतसर छोड़ कर चले जाने की आज्ञा दी। अब महात्मा जी श्री प्रभु जी के आदेश को शिरोधार्य कर तत्काल अमृतसर से कहीं को प्रस्थान कर गए। महात्मा को बहला–फुस्ला कर लाने वाला समुदाय शेष महात्माओं संग निराश हो कर लौट गया। परन्तु इन लोगों के मन में यह धारणा अवश्य घर कर गई कि श्री रामलाल जी महाराज साधारण ब्राह्मण नहीं हैं अपितु कोई सर्व समर्थ्य पूर्ण पुरुष स्वयं को इस साधारण वेश भूषा में छिपाए हुए हैं, जिनकी महिमा प्रत्येक व्यक्ति नहीं जान सकता।

इस प्रसंग में ब्रह्मचारी श्री गोपालानन्द जी ने जो कार्य किया, वह श्री प्रभु जी महाराज को प्रिय नहीं था। उस महात्मा के चले जाने के पश्चात, श्री प्रभु जी ने ब्रह्मचारी जी को आज्ञा

दी– तुमने हमारे सामने हमारी इच्छा के विरूद्ध अपनी शक्ति का परिचय दिया है। अतः तुम हमारे पास से चले जाओ। गहना कर्मणोगति। श्री प्रभुजी का यह कठोर आदेश पा कर श्री ब्रह्मचारी जी ने व्याकुल हो कर उन कृपामय जी के श्री चरणों में बारम्बार विनय पूर्वक प्रार्थना की– प्रभो आप सर्व समर्थ्य हैं, आप अपने श्री चरण कमलों से छुड़ा कर मुझे कहाँ भेज रहे हैं ? आप के श्री चरण कमलों के अतिरिक्त मेरे लिए और कौनसा स्थान है ? हे दीन बन्धु– पतित पावन जी ! कृपा कर बतलाईए कि मैं कहाँ जाऊँ ?

अर्न्तयामी जी तुम एक हो इस जग के आधार।

जो तुम्हें छोड़ जाऊँ, कौन उतारे मोहे पार।।

इस प्रकार ब्रह्मचारी जी के करूणा पूर्ण वचनों को सुन कर आ गई लहर शिवा के मन में, बोले–बेटा! अब मेरे मुख से वचन निकल गया है। एक बार तुझे जाना ही है। परन्तु तुम शीघ्र ही लौट आ जाओगे। तुम मौन हो कर कहीं भी चले जाना। जो भी प्रथम व्यक्ति तुम्हें बुलाएगा और भोजन कराएगा, तुम उसी के साथ यहाँ लौट कर आ जाना। वह व्यक्ति हमारा भक्त होगा और उसका सब प्रकार से भला होगा।

तुम मेरे पास हो हवा की तरह, तुम मेरे साथ हो दुआ की तरह।

भेजना तुमको एक वचन है मगर, तुम मुझ को याद करना प्यार की तरह।।

गुरु देव आनन्द कन्द प्रभु श्री राम लाल जी महाराज का आदेश शिरोधार्य कर ब्रह्मचारी श्री गोपालानन्द जी वहाँ से तुरन्त चल पड़े। वे चलते चलते अमृतसर से दो–तीन मील आगे निकल गए। ब्रह्मचारी जी मौन हो कर श्री कृपा निकेतन जी के श्री चरण कमलों का ध्यान करते हुए–
अर्धोन्मीलित नेत्रों से काफी दूर निकल चुके थे।

माली चुनता फूल जिस तरह, फूलों भरी कतार से।

निज बच्चों को आप खेंचते, भीड़ भरे संसार से।।

तब मार्ग में एक बाग पड़ा। इस सुन्दर बाग में वैरागी महात्माओं की छावनी पड़ी हुई थी। इस छावनी के महन्त श्री बालकृष्ण दास वैरागी थे। इनका आसन छावनी के मध्य में लगा हुआ था और सिर पर एक सुनहरी छत्र था। उनकी बहुत लम्बी जटाएँ लटक रही थीं। ब्रह्मचारी श्री गोपाल नन्द जी महाराज को वहाँ से निकलते देखकर महन्त श्री बालकृष्ण दास जी ने पुकारा– ब्रह्मचारी ! इधर आओ। पूछा– तुम किसके ब्रह्मचारी हो ? अब कहाँ जा रहे हो ? तुम्हारे अधोन्मीलित नेत्र तुम्हारी उच्च अन्तः स्थिर स्थिती को प्रकट कर रही हैं। यह महती कृपा तुम्हें कहाँ से उपलब्ध हुई ? तुम किसके शिष्य हो ? इस समय ध्यान में तुम किसको देख रहे हो. ....?

बिना नोका के ही तैरादे, मेरा माँझी है अनोखा।

ना छोड़ो उनका दामन पाके ऐसा मौका।।

महन्त श्री बाल कृष्ण जी के इस प्रकार प्रेम भरे वचनों को सुन कर ब्रह्मचारी श्री

गोपाला नन्द जी ने उत्तर दिया– महाराज, जीव मात्र पर परम अनुग्रह करने वाले योग योगेश्वर प्रभु श्री रामलाल जी महाराज का मैं शिष्य हूँ और उन्हीं सर्व शक्ति मान जी की परम कृपा से मुझे हर समय दिव्यानुभव होते रहते हैं। यह सुन कर महन्त श्री बालकृष्ण दास ने ब्रह्मचारी जी को अत्यन्त आदर पूर्वक अपने पास बैठाकर भोजन कराया। भोजनोपरान्त श्री बाल कृष्ण दास ने अपनी लालसा प्रकट करते हुए ब्रह्मचारी जी से अनुरोध किया– भाई, अपने उस सर्वशक्तिमान सर्व समर्थ्य सद्गुरुदेव जी के श्री चरणों में मुझे भी ले चलिए, जिससे उनकी परम कृपा से मैं भी कृतार्थ हो सकूँ। ब्रह्मचारी जी ने श्री प्रभुजी के वचनों का स्मरण करके महन्त जी की प्रार्थना स्वीकार कर उनको श्री प्रभु जी के चरण विन्दों में लिवा लाए।

वैरागी बालकृष्ण दास जी के मन में अपने विरक्त वेश का अभिमान तो था ही, फलत: उसने श्री प्रभुजी के श्री चरण कमलों में प्रणाम आदि नहीं किया। प्रत्युत: दोनों हाथ उठाकर 'महाराज आपकी जय हो ' शब्द उच्चारण करके, एक प्रकार से आशीर्वाद देने का प्रयास किया। अर्न्तयामी श्री प्रभुजी उस महन्त के अर्न्तगत भावों को पहचान गए और उनको एक आसन पर बैठा दिया। थोड़ी देर के पश्चात, प्रसंग के चलते, महन्त जी ने जिज्ञासा की– प्रभो ! क्या इस कलिकाल में भगवान श्री रामचन्द जी के दर्शन हो सकते हैं ? उत्तर में सर्व समर्थ्य श्री प्रभु जी ने प्रेम पूर्वक कहा– हाँ, दर्शन हो सकते हैं। तो वैरागी जी ने प्रार्थना की– कृपा करके मुझे दर्शन कराईए। करूणा निधान श्री प्रभु जी ने आज्ञा दी– यदि तुम दर्शन के इच्छुक हो, तो जो भजन तुम किया करते हो, उसे ही हमारे सामने बैठ कर करो। श्री प्रभुजी की आज्ञा पा कर बालकृष्ण ने अपना नैत्यिक मंत्र जाप आरम्भ किया। फलस्वरूप मन की एकाग्रता को पा कर वह कृत कृत हो गए। तत्क्षण उन्हें दिव्य–दर्शन होने प्रारम्भ हो गए। " नाम खुमारी नानका चढ़ी रहे दिन रात " इस अलौकिक कृपा को पा कर महन्त जी ने स्वय को कृतार्थ समझा और अपनी छावनी के महन्त पद का लोभ छोड़कर अपना शेष जीवन श्री प्रभु जी महाराज के श्री चरणों में ही व्यतीत करने का पूरा–पूरा निश्चय कर लिया। उसने अपने साथ आए सभी साथियों को यथास्थान चले जाने का आदेश देकर स्वयं श्री चरणों में रह कर नित्य–प्रति उत्तरोतर प्रगति करने लगे।

ॐ श्री रामलाल प्रभवे नमः

योग-दीक्षा और माताएँ

श्रीमती सरिता भारद्वाज, सांख्ययोगाचार्य, एम.ए., बी.एड.

वैसे तो ' सहज अपावन नारि ' यह रामायण की उक्ति नारियों के लिए सामान्यतया ठीक ही चरितार्थ होती है किन्तु जो सेवा, समर्पण और ज्ञान के द्वारा आत्म-परिष्कार कर लेती हैं वे लीला, चुडाला, गार्गी, मैत्रेयी, अनुसुइया तथा माँ शारदा तथा आनन्दमयी माँ जैसी दिव्य योग-शक्ति की निधि बन सकती हैं और अपने पति तथा पुत्रों की कल्याण-भाजन बन कर यश अर्जित कर सकती हैं। जो स्त्रियाँ विषय भोगों और कामवासना की सन्तुष्टि को ही अपने जीवन का ध्येय बनाकर पुरुषों को संसार-सागर में निमग्न करने वाली होती हैं उन्हें यदि नरक का द्वार कहा गया है तो कोई अनुचित नहीं है। सहजो बाई, मीरा और रामरती जैसी नारियाँ योग-मार्ग की पथिक बनकर जन जन का कल्याण करती हैं। भगवान श्रीकृष्ण ने गीता में उद्घोष किया है कि - स्त्री, वैश्य, शूद्र तथा पाप योनियों में जन्म लेने वाले प्राणी किसी सिद्ध पुरुष की कृपा प्राप्त कर योग-निष्ठ बन जाएँ तो वे संसार में पूजनीय हो जाते हैं और अपने जीवन को कृतार्थ कर लेते हैं।

माँ हि पार्थ व्यपाश्रित्य, येऽपि स्युः पापयोनयः।

स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि, यान्ति परां गतिम्।।

स्त्रियाँ पत्नी और माता के रूप में अपने परिजनों का उद्धार कर सकती हैं। पुरुष बुद्धि प्रधान होने के कारण ज्ञान-योग द्वारा अन्तर्जगत में प्रवेश पाता है किन्तु नारी भाव-प्रधान हृदय होने के कारण भाव योग द्वारा शीघ्र समाधि-लाभ कर सकती है। यदि पत्नी को समान विचार वाला सहयोगी पति मिल जाए या आध्यात्मिक रुचि वाले पुरुष को समान मन वाली सहगामिनी मिल जाए तो उन्हें जीवन मुक्त अवस्था का सुख सहज प्राप्त होने में देर नहीं लगेगी। योगवाशिष्ठ में गुरु वशिष्ठ जी योगी राम को इसी विचार का उपदेश देते हैं कि -

समग्रानन्दवृन्दानामेत- देवोपरि स्थितम्।

यत्समान मनोवृत्ति, सङ्गमास्वादने सुखम्।।

- 6/85/43

समान मनोवृत्ति वाले स्त्री-पुरुषों का पति-पत्नी के रूप में संग प्राप्त हो जाए तो उससे जो सुख मिलता है वह संसार के सब आनन्दों से बढ़कर है। उदात्त मनोवृत्ति में स्त्री पुरुषों के जन्म-जन्मान्तर के संस्कार तथा माता-पिता का तप कारण होता है। अध्यात्म मार्ग की मनोवृत्ति वाली नारी पति और पुत्रों के लिए गुरु का कार्य करती है। नारी में महामाया दुर्गा और योग अधीश्वरी कात्यायनी की शक्ति समाविष्ट रहती है। दुर्गा सप्तशती में सभी स्त्रियों को इसीलिए देवी-स्वरूप कहा गया है - **" स्त्रियः समस्ताः तव देवि ! रूपाः।"**

गुरु का अर्थ– गुरु शब्द क्रयादि 'गृ' धातु और तुदादि गण की निगरण अर्थ वाली 'गृ' धातु से ' कृग्रोरुच्च ' उणादि सूत्र से 'कु' प्रत्यय कर उकारान्तादेश होने पर ' उरण रपरः' सूत्र से उरादेशान्तर 'कृन्द्धितसमासाश्च ' सूत्र से प्रातिपदिक संज्ञा कर 'सु' विभक्ति द्वारा सिद्ध होता है। 'गुरु' शब्द का अर्थ है – ' गृणाति, उपदिशति धर्ममिति। गिरति अज्ञान मिति। यद्वा गीर्यते स्तूयते देवगन्धर्वादिभिः। जो धर्म का उपदेश दे, अज्ञानरूपी अन्धकार का नाश करे और प्रकाश दे तथा देव– गन्धर्व आदि से जो स्तुत हो उसकी गुरुसंज्ञा होती है। तान्त्रिक परिभाषा के अनुसार ' गकार ' का अर्थ सिद्धिदाता, ' उकार ' का अर्थ शम्भू और ' रकार ' का अर्थ पाप–नाशक होता है। जो पापों का विनष्ट कर तत्व–ज्ञान को प्रकट कर शिवत्व की सिद्धि प्रदान करे उसे गुरु कहा जाता है। इन गुणों की जहाँ उपलब्धि हो वहाँ गुरु–तत्व प्रकट होता है। इसीलिए भगवान वेदव्यास ने कूर्म–पुराण में दस प्रकार के गुरुओं का उल्लेख किया है –

उपाध्यायः पिता माता, ज्येष्ठो भ्राता महीपतिः।
मातुलः श्वसुरश्चैव, मातामह पितामहौ।
वर्णाज्येष्ठः पितृव्यश्च, सर्वे ते गुरवः स्मृताः।।

(12/26)

अर्थात् उपाध्याय, पिता, माता, बड़ा भाई, राजा, मामा, श्वसुर, नाना, बाब तथा ' वर्णानां ब्राह्मणो गुरुः ' इस स्मृति शास्त्र के वचन के अनुसार सभी वर्णों में ज्येष्ठ ब्राह्मण, चाचा तथा ताऊ ये दस गुरु कहे गये है।

महर्षि वशिष्ठ ने माता को सर्वाधिक्य महत्वपूर्ण गुरु माना है –

उपाध्यायान्द शाचार्यः, आचार्याणां शतं पिता।
पितुर्दश गुणां माता, गौरवेणातिरिच्यते।।

–अ. 3

अर्थात् गुरुतत्व की प्रधानता के कारण उपाध्याय से आचार्य दस गुना, आचार्य से पिता सौ गुना तथा पिता से दस गुना अधिक माता का स्थान होता है। माता को इतना बड़ा दर्जा देने के पीछे कारण है, गर्भ धारण से लेकर बालक के वयस्क होने तक माता कितना त्याग समर्पण ! कितनी सेवा ! तथा कितना प्रेम अपनी सन्तान को समर्पित करती है। माता के ऋण से व्यक्ति आजीवन उऋण नहीं हो सकता। धर्मसूत्रों में इसीलिए माता का सर्वश्रेष्ठ देवता कहा गया है–

नास्ति मातृसमो देवः।

–आपस्तम्भ धर्मसूत्र

माता की प्रसन्नता से संतान का अभ्युदय होने में कोई सन्देह नहीं है। " नास्ति मातुः परो गुरुः। " माता से बढ़कर कोई गुरु नहीं हो सकता, गुरुदेव में ही शिवत्व का निवास माना गया है। जैसा कि शिवपुराण में कहा गया है –

योग गुरुः स शिवः प्रोक्तो, यः शिवः स गुरुः स्मृतः।
तस्माद्धि श्रीगुरोर्भक्ति, भुक्ति मुक्ति प्रदायिनी।।

– 6/3/42

भुक्ति मुक्ति प्रदान करने वाली गुरुभक्ति जिसमें उदय हो जाए उसका कल्याण हो सकता है। माता अगर योग–मार्ग प्रविष्ट हो तो वह बालक के लिए गुरु का कार्य आसानी से कर सकती है, क्योंकि बालक का हृदय माता की दौहृदावस्था के आचरण से निर्मित होता है। माता गर्भावस्था में ही बालक को दीक्षा देने लगती है।

दीक्षा का अर्थ–

लघुकल्प सूत्र के अनुसार जिस क्रिया से पापराशि क्षीण हो और परम ज्ञान का उदय हो उसे आगमादिशास्त्रों में दीक्षा कहा गया है।' दीक्षा ' शब्द में दो शब्द हैं– ' दी ' तथा ' क्षा '। 'दा' धातु से 'दी' बना है जिसका अर्थ है देना तथा ' क्षी ' का अर्थ है क्षय होना।

दीयते परमं ज्ञानं, क्षीयते पापपद्धतिः।

तेन दीक्षोच्यते मन्त्र, स्वागमार्थ बलाबलात्।।

दीक्षा के बिना सैकड़ों प्रकार की उपासनाओं द्वारा आत्म–सिद्धि नहीं हो सकती जैसा कि विच्छिलातन्त्र में कहा गया है कि गुरुदेव से मंत्र लेकर उपासना में प्रवृत्त होकर दीक्षा द्वारा ही आत्म–कल्याण हो सकता है।

उपासना शतेनापि यां, बिना नैव सिध्यति।

तां दीक्षामाश्रयेद् यत्नात्, श्रीगुरोर्मन्त्रसिद्धये।।

दीक्षा पाँच प्रकार की होती है– क्रिया, स्पर्श, दृग्, स्मरण आदि, वर्ण दीक्षा, कला दीक्षा, वेध दीक्षा तथा साम्प्रदायिकी दीक्षा।

योगपरायण माताएँ अपने एकाग्र तथा समाधिस्थ मन की शक्ति से गर्भ में ही अपने बच्चों को दीक्षित कर शक्ति के बीज का आधान कर देती हैं, जिससे बालक थोड़े समयमें ही सिद्धि लाभ कर लेने में समर्थ हो जाता है। जिस प्रकार ध्रुव की माता सुनीति ने ध्रुव को परम तत्व की दीक्षा दे दी थी, जिससे छः महीने में ही भगवान का आत्म–साक्षात्कार कर लिया था। प्रहलादजी गर्भ में ही माता से दीक्षा प्राप्त कर परम भागवत बन गये थे। माता बालक के कर्णो में धीरे–धीरे जो कुछ गुनगुनाती है बालक का अचेतन मन उसे ग्रहण करता जाता है और भविष्य में उसका व्यक्तित्व वैसा ही बन जाता है। गर्भावस्था में माता को दौहृदावस्था में जैसी वस्तुओं की रुचि होती है, वैसे ही बालक की बुद्धि बन जाती है। प्राचीन काल में गृहस्थों को दीक्षा–विज्ञान का ज्ञान था अतः गर्भावस्था में माताओं को ऋषियों और सिद्धों के आश्रम का दर्शन, तीर्थों का सेवन तथा महापुरुषों की सेवा के कार्य कराये जाते थे जिससे संतान में सात्विक बुद्धि के संस्कार बढ़ते चले जाते थे। माताएँ योग–ध्यान–परायण होती थी, जिससे बालक में दिव्य तेज के परमाणु व्याप्त होते चले जाते थे। बालक को प्राणायाम करने का पाठ सिखाकर शक्ति संचय की युक्ति माताएँ सिखा देती थीं। आजकल सिनेमा तथा चाट – पकौड़े के संस्कारों से संतान रजोगुणी और तमोगुणी पैदा हो रही है। दिव्य तेज के परमाणु उनके रक्त में कहाँ से आयेंगे। बालकों को फिल्मी गाने गाकर या हौवा का भय दिखाकर सुलाने वाली मातायें यह नहीं जानतीं कि सोते समय चेतन मन शांत हो जाता है और अचेतन मन सारी बातें

रिकार्ड करता रहता है। वे बातें बच्चे को निर्देश (Suggestion) का कार्य करती हैं, जिससे भविष्य में बालक बचपन से देखी या सुनी हुई बातों के अनुरूप ही ढल जाता है। योगियों के कुल में ही योगनिष्ठ आत्मा जन्म लेती है, क्योंकि वहीं उनके अनुरूप साधन का वातावरण मिलता है।

आजकल की मातायें बालकों को जितना अधिक से अधिक सम्भव हो सके उच्छृंखल बनाने में गौरव का अनुभव करती हैं। कहती यह हैं कि हम दकियानूस और परम्परावादी नहीं बनाना चाहते बल्कि ' अपटूडेट ' तथा ' मोडर्न ' बनाना चाहते हैं। ' माडर्न ' के चक्कर में वे मनुष्य की शक्ल में जानवर बन जाते हैं। बड़े होकर न वे माँ–बाप को कुछ समझते हैं न धर्म कर्म को। ईश्वर में विश्वास न करने का एक फैशन ही चल पड़ा है। जो ईश्वर को नकारता है वह सबसे बड़ा बुद्धिवादी माना जाता है। ज्ञानी का लक्षण आजकल यह है कि वह भोग और वासना द्वारा अपने संसार को बढ़ा सके। सुख–सुविधा की वस्तुओं में अपने को कैद कर सके वही सबसे बड़ा ज्ञानी है। योग–ध्यान–परायण मातायें अपनी संतान की रग रग में दिव्य तेज भर देती हैं, जिससे वह सेवा परायण, ईश्वर–भक्त तथा कठोर तपस्वी तथा विद्या–व्यसनी बनकर अपने जीवन को योगमार्ग से हटाकर आत्म–कल्याण योगमार्ग की ओर अभिमुख करता है।

माता की दीक्षा विधि–

सामान्यतया दीक्षा का क्रम यह है कि तत्वशोधन करके पूजन तथा अर्चन उपरान्त मंत्र के उपदेश द्वारा गुरुदेव शक्तिपात कर शिष्य के अन्तःकरण में संचित कर्म समुच्चय में क्षोभ उत्पन्न करते हैं, जिससे शिष्य में गुण सतोगुण बढ़ने लगता है और उसकी ज्ञाननिष्ठा तथा ध्येय–निष्ठा बढ़ने लगती है। शनैः–शनैः प्राणायाम जप ध्यान तथा समाधि द्वारा शिष्य अन्तर्जगत में प्रवेश करता हुआ अपने कर्म समुदाय को निर्जीव करता हुआ कर्मबन्धन को काटकर मुक्त हो जाता है। किन्तु माता की दीक्षाविधि अपने ढंग से सहज रूप से चलती रहती है। यदि माता का मन एकाग्र है तथा वह ध्यानयोग परायण है तथा उसके जीवन में श्रीकृष्ण, श्रीविष्णु भगवान, शिव आदि अपने इष्ट में लयता का अभ्यास चला है तो वह अपनी दृष्टि के विक्षेप से बालक के मन को भगवान श्रीकृष्ण के गुणों से परिपूरित कर उसमें दिव्य शक्तियों का अवतरण कर सकती है। इसी प्रकार हृदय के स्पर्श द्वारा बालक में प्रेम, शक्ति तथा विद्या का संचार कर सकती है।

नीति–शास्त्र में दीक्षा के इस रहस्य को प्रकारान्तर से कहा गया है –

दर्शनध्यान सस्पर्शात्, मत्सीकूर्मी च पक्षिणी।
शिशून् पालयते नित्यं, तथा सज्जन संगति।।

मछली अपने बच्चों को प्यार भरी दृष्टि से देखती रहती है और देखते ही देखते वह उप लघु रूप को अपना आकार, अपनी गति, आकृति तथा शक्ति दे देती है। मछली अपने अंडों को तालाब के किनारे पर रखकर जल के अन्दर विहार करती रहती है और हाथ खुश्क स्थान पर रखे हुए अंडों का ध्यान करती है। ध्यान के प्रभाव से अंडों में कछुए का रूप रंग तथा आकृति एवं स्वभाव सब कुछ आ जाता है और अंडा कछुए में बदल जाता है। भ्रमरकीट न्याय तो प्रसिद्ध है ही। कबूतर आदि पक्षी अपने अण्डों के ऊपर बैठकर अपने पंखों की गर्मी तथा हृदय की भावना

देते रहते हैं, जिससे फलस्वरूप कुछ ही समय में अण्डा पक्षी के रूप में बदल जाता है। एक पक्षी का अण्डा यदि दूसरी जाति के पक्षी के पास रख दिया जाए तो दूसरी जाति के पक्षी के गुण उसमें आजाते हैं। उसी प्रकार मातायें अपनी संतान का संकल्प शक्ति, स्पर्शशक्ति, दर्शनशक्ति तथा मंत्रशक्ति व ध्यान द्वारा संवर्द्धन किया करती हैं। कुलार्णव तंत्र मे भी उल्लेख है कि मानस संकल्प तथा ध्यानयोग द्वारा उच्चकोटि की दीक्षा होती है जिसे वे बेध दीक्षा कहते हैं, बेध दीक्षा द्वारा, हृदय की अज्ञान–ग्रन्थि खुल जाती है। जिस प्रकार कछुआ अपने बच्चों को ध्यान द्वारा ही पुष्ट करता है, उसी प्रकार योग शक्ति सम्पन्न गुरु अपने शिष्य को ध्यान द्वारा सर्वशक्तिमान बना देता है –

यथाकूर्मः स्वतनयान्ध्यान, मात्रेण पोषयेत्।

वेधदीक्षोपदेशस्तु मानसः, स्यात्तथा विधः।।

जिस देश की मातायें योगी हों, वहाँ शौर्य, विद्या, वैभव तथा ज्ञान– विज्ञान का भण्डार सदा अक्षुण रहेगा। योग और दीक्षा के रहस्य को समझ कर मातायें अपने समस्त परिवार का कल्याण करना सीखें, तभी उनका पत्नीत्व व मातृत्व धन्य होगा।

ॐ श्री रामलाल प्रभवे नमः

ईश्वर

स्वामी श्री देवेन्द्रानन्द गिरि

योग–दर्शन केवल ईश्वर को ही नहीं मानता अपितु योगी को ईश्वर भक्ति करने से ईश्वर का दर्शन, योग–मार्ग पर आने वाले विघ्नों का नाश तथा अन्त में अपने आत्मा का दर्शन भी होता है। तो भी उसकी मान्यता रहती है। योगदर्शनकार की यहाँ अद्वैत स्थिति का अमनीभाव का, असंप्रज्ञात समाधि का एक उपाय ईश्वर–प्रणिधान मानने से हृदय की निर्मलता, निष्पक्षता, सत्यनिष्ठा, सर्वश्रेष्ठता व्यक्त हुई है । अतः योगदर्शन में अन्य साधनों के साथ–साथ ही ईश्वरोपासना स्वीकृत करना उसकी विशिष्टता तथा महानता है। इन सारी बातों को यथायोग्य समझने के लिए हम योग–दर्शन में आये ईश्वर विषयक सूत्रों का संक्षेप से अर्थ करते हुए प्रथम ईश्वर का स्वरूप बताते हैं।

योगदर्शन में महर्षि पतंजलि जी ने ' पुरुष–विशेष ' रूप ईश्वर को स्वीकार किया है। यहाँ पुरुष विशेष से ईश्वर को एक असामान्य विलक्षण पुरुष ही माना है। अतः साँख्य के 25 तत्व ही योग में हैं ईश्वर नामका दूसरा अलग कोई 26 वाँ तत्त्व नहीं स्वीकृत किया है। योगवार्तिककार विज्ञानभिक्षु कहते हैं– **' तथा च ईश्वरस्य पुरुषेऽन्तर्भावः।** ' जिस प्रकार योग में पुरुष अनेक मानने पर भी अर्थात् प्रत्येक पुरुष की अन्य के साथ विलक्षण कुछ न कुछ भेद होने पर भी एक ही पुरुष सबको कहलाते हैं अन्यथा योग में अनेक तत्त्व हो जाते। वैसे ही ठीक ईश्वर का पुरुष में ही योग में अन्तर्भाव होने से ईश्वर कोई 26 वाँ तत्त्व नहीं है। यथा पुरुष शुद्ध, अपरिणामी, निर्विकार, निर्गुण त्रिगुणातीत , चिन्मात्र, चेतन, असंग निर्लेप, क्लेशरहित, धर्माधर्म–सम्पर्क रहित, जात्यायुर्भोग रूप उपसर्गों से रहित कूटस्थ तथा नित्य है ठीक ईश्वर भी ऐसा है। पर ईश्वर में कुछ अन्य पुरुषों से विशेषतायें मानी गई हैं वे इस प्रकार हैं–

' क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुष–विशेष ईश्वरः। ' (यो. सू. 1/24) ईश्वर क्लेश, कर्म, विपाक और आशय, इनके परामर्श से रहित है। यहाँ ज्ञातव्य है कि यद्यपि सभी पुरुष क्लेशादि धर्म तथा उनके सम्बन्ध से निर्लेप, रहित ही होते हैं तथापि साधारण लौकिक पुरुषों में स्वात्माज्ञान से **' क्लेशादय मनसि वर्तमानाः पुरुष व्यपदिश्यन्ते** ' (व्यास भाष्य)। क्लेश, कर्म, विपाक और वासनाओं का ज्ञान यद्यपि बुद्धि में रहता है तथापि बुद्धि में प्रतिविम्बित उपहित पुरुष में उपचरित होता है, जिससे पुरुष ' अहं दुःखी ' ' अहं सुखी ' अहं कर्ता, अहं भोक्ता इत्यादि मानता है यही क्लेशादिका जीव में परामर्श है, यही भोगोपचार हैं जो अज्ञानता से है वास्तविक नहीं किन्तु ईश्वर में इस तरह का क्लेशादिका परामर्श, भोगोपचार कभी भी नहीं होता है। ईश्वर सदा अपरामृष्ट परामर्श रहित है– ' स तु सदैव मुक्तः सदैवेश्वरः इति। व्यास भाष्य अतः बद्ध–जीवात्मा से ईश्वर की यह विशेषता है– 1. प्राकृतिक बन्ध– अष्टप्रकृतिषु अभिमानरूपः (योगवार्तिक) अव्यक्तादि 8 प्रकृति में अभिमान होना। 2.

वैकारिकबन्ध–शब्दादिविषयराग: (योगवार्तिक) शब्दादि 5 विषय में आसक्त होना। 3. दक्षिणाबन्ध– गृहस्थानां कर्मदक्षिणादानादिषु अनुराग–कर्म, दक्षिणा, दान आदि कर्मों में आसक्त रहना।

उपरोक्त तीनों बन्धन बद्ध पुरुष में होते हैं। मुक्त पुरुष में नहीं होते फिर भी ईश्वर इन मुक्त जीवात्माओं से भिन्न है क्योंकि भूतकाल में सर्वमुक्त जीवात्मा बद्ध थे पर ईश्वर तो तीनों काल में सदैव मुक्त ही रहता है, और जो अभी प्रकृतिलीन पुरुष हैं वे भविष्य में बद्ध दशा को प्राप्त होते हैं अत: ईश्वर उनसे भी अलग है। इस तरह की सार्वकालिक नित्य–मुक्तत्त्व का तथा नित्य ऐश्वर्य का ईश्वर में होने का कारण यह है कि जीवात्मा का चित्त अशुद्ध सत्त्वगुण से बना है पर ईश्वर का **' प्रकृष्टतत्त्वोपादानात्'** भाष्य प्रकृष्टं–विशुद्ध रजस्तप: सम्पर्क शून्यं। अर्थात् शुद्ध सत्त्वगुणी उपाधि से युक्त होने के कारण ईश्वर सदा मुक्त रहता है। यही बात तत्त्ववशारदी में वाचस्पति मिश्र और स्पष्ट लिखते हैं– **' सत्त्वप्रकर्षमुपादत्ते भगवान् अपरामृष्टऽप्यविद्या '** अविद्या रहित शुद्ध सत्त्व चित्वान् ईश्वर है। वाचस्पति मिश्रजी प्रकृति ईश्वर से अधिष्ठित होकर ही सृष्टि तथा विकास की प्रक्रिया और अन्त में प्रलय को करती है यह बात तत्त्व–वैशारदी में भगवान जगत्सहार आदि वचनों से स्पष्ट होती है। अत: ईश्वर को एक ही माना गया है। अन्यथा यदि दो ईश्वर होते तो प्रकृति का तथा जीवात्मा विषयक किये यह जीव मुक्त हो इत्यादि संकल्पों का कोई भी कार्य पूरा नहीं हो पाता। क्योंकि दूसरा ईश्वर उसके विपरीत संकल्प कर देता अत: योग ईश्वर के समान अथवा ईश्वर से अधिक ऐश्वर्यवान्, शक्तिशाली किसी अन्य ईश्वर को अथवा जीव को नहीं माना गया है। यही बात **' यस्य साम्यातिशयैर्विनिर्मुक्तमैश्वर्य स एव ईश्वर:। '** इस वचन से स्पष्ट बताई गई है। अत: योगदर्शन ईश्वर को एक सर्व ऐश्वर्यवान् शक्तिमान् स्वीकृत करता है। ईश्वर की मुक्तता का तथा नित्य ऐश्वर्यता में सूत्रकार स्वयं हेतु देते हैं–

' तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्। '

– यो. सू. 1/25

भूत, भविष्य, वर्तमान कालिक अतीन्द्रिय ज्ञान की तथा इन्द्रिय–गोचर ज्ञान की अन्तिम पराकाष्ठा ही सर्वज्ञता है। जो ईश्वर में सदा नित्य रहती है। कहा भी है –

ज्ञानं वैराग्यमैश्वर्यं तप: सत्यं क्षमा धृति:
स्त्रष्टत्त्वमात्मसम्बोधो ह्यधिष्ठातृत्त्वमेव च।
अव्यानि दशैतानि नित्यं तिष्ठंतिशंकरे।।

–वायुपुराण

सर्वज्ञा, वैराग्य, ऐश्वर्य, तप: सत्य, क्षमा धैर्य, सृष्टि उत्पन्नशीलता यथार्थ स्वात्मबोध, सबकी आधारता निर्विकारता ये दस बातें ईश्वर में रहती हैं। इसीलिए सूत्र में कहा है–

" निरतिशय–निर्गत: अतिशय: यस्मात् तत्। "

जिससे बढ़कर और सर्वज्ञता कहीं नहीं है, जो कि सर्वज्ञता की अन्तिम पराकाष्ठा सदा ईश्वर में रहती है। ऐसा ऐश्वर्यवान् ज्ञानी ईश्वर में अपना कोई प्रयोजन न होने पर भी जीवों की

दया–कृपावश प्राणियों को ज्ञान तथा धर्म का उपदेश करता और उन्हें अपने उद्धार के संकल्प द्वारा मोक्ष में स्थित करता है।

तस्यात्मानुग्रहाभावेऽपि भूतानुग्रहः प्रयोजनम् ज्ञानधर्मोपदेशेन कल्पप्रलय महाप्रलयेषु संसारिणः पुरुषानुद्धरिष्यामीति।

भाष्य – इसी बात को स्वयं भगवान गीता में बताते हैं–

लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्टा, पुराप्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां, कर्म योगेन योगिनाम्।।

भगवत् प्राचीन सर्व गुरुओं को ज्ञान–प्रदान होने से सभी गुरुओं का आदि गुरु माना गया है। सूत्रकार स्पष्ट बताते हैं– ' **पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्** ' (यो. सू. 1/26)। प्रत्येक सृष्टि के आदि अनावित्त्वात् विद्यमान् होने से ईश्वर सभी ज्ञानोपदेष्टाओं का गुरु है। ईश्वर अनादि ज्ञानैश्वर्य से युक्त हैं। जीव को आत्म–दर्शनरूप निर्विकल्प असंप्रज्ञात समाधि यदि वह ईश्वर की उपासना करता है तो उससे भी होती है। सूत्रकार स्पष्ट करते हैं– ' **ईश्वरप्रणिधानाद्वा** ' यो. सू. 1/23 यदि ईश्वर प्रणिधान करके ईश्वर प्रसन्न किया जाए, तो उनकी कृपा से जल्दी ही समाधि लाभ होता है। साधक एक ईश्वर के ही प्रेम से भक्ति करें, तन–मन धन से समर्पण करें तथा प्रत्येक कर्म उनकी पूजा समझकर ही निष्काम भाव से करें यही ईश्वर प्रणिधान हैं। भोजराज अपने राजमार्तण्डवृत्ति में यही अर्थ करते हैं– " **प्रणिधानं भक्तिविशेषो, विशिष्टमुपासनं, सर्वक्रियाणां तप्रार्पणं, विषय सुखादिकं फलमनिच्छन् सर्वाः क्रियास्तस्मिन्, परमगुरावर्पयति तत्प्रणिधानम्** " **राज. वृत्ति।**

इस तरह उपासना करने से भगवान् प्रसन्न होते है, फिर उनके संकल्पमात्र से ही साधकों को समाधि–लाभ होता है। " **तदभिध्यानमात्रादपि योगेन आसन्नतमः समाधिलाभः समाधि फलं भवति** " (भाष्य)। ईश्वर के प्रणिधान का साधन भी स्वयं सूत्रकार ही बताते हैं– ' **तस्य वाचकः प्रणवः** ' यो.सू. 1/27 जिस शब्द से भगवान् को उत्कृष्ट रूप से स्तुति भक्ति की जाती है, उसे प्रणव कहते हैं– ' **प्रकर्षेण नूयते स्तूयते इति प्रणवः** '। प्रणव यानी ओंकार इस ओंकार का और ईश्वर का शब्दार्थ होने के कारण अनादि वाच्य–वाचक नित्य सम्बन्ध है–' **ओंकारेश्वरयोश्च वाच्यवाचक भावलक्षणः सम्बधो नित्यः संकेते न प्रकाश्यते न तु केनचित् क्रियते** ' (राज. वृत्ति)। ऐसे ओंकार का जप करते हुए योगी ईश्वर की भावना भी करे– ' **तज्जपस्तदर्थ भावनम्।** ' (योगसूत्र 1/28)। जिससे ओंकार के जप को ईश्वर के ध्यान से संपुटित ईश्वर प्रसन्न होकर संकल्प मात्र से साधक पर कृपा करता है, जिससे समाधि की प्राप्ति होती है।

' **ततः ईश्वरः समाधि तत्फललाभेन तमनुगृह्णाति।** (योगवार्तिक)

इस प्रकार ईश्वर के अनुग्रह सम्पूर्ण विघ्नों का नाश होकर समाधि–प्राप्ति द्वारा जीवात्मा को अपने स्वरूप का यथार्थ बोध हो जाता है। सूत्रकार कहते हैं– ' ततः प्रत्यक् चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च ' योगसूत्र 1/26। सूत्रस्थ अपि शब्द से यह भी सिद्ध होता है कि योगी को ईश्वर का दर्शन भी होता है। अतः ईश्वर का साक्षात्कार की प्रत्यक्षता भी योगी को

उपासना से होती है। इस प्रकार ईश्वर भक्ति से आत्म–साक्षात्कार में आने वाली बाधाओं का नाश होकर अन्त में आत्म–साक्षात्कार भी हो जाता है। जैसाकि योगी को ईश्वर का शुद्ध, त्रिगुणातीत, क्लेश–रहित, धर्माधर्म सम्पर्कहीन, कूटस्थ, असंग, निर्लेप दर्शन हुआ था ठीक वैसे ही ईश्वरवत् क्लेशादि धर्मरहित शुद्ध अपनीआत्मा का दर्शन होता है। ' **सूत्रस्थ प्रत्यक् चेतनाधिगमः** ' पद का अर्थ स्वबुद्धि उपहित अपने चेतन आत्मा का दर्शन है– ' **विषयप्रातिकूल्येन स्वातःकरणभिमुखमञ्चति या चेतना दृक्शक्तिः सा प्रत्यक् चेतना तस्या अधिगमो ज्ञानं भवति** ' राम०।

तात्पर्य ईश्वर की कृपा से भी मोक्षप्रदचित्तवृत्ति निरोध होकर योग अर्थात् समाधि–सिद्ध हो जाती है, जिससे ' **तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्** ' योगसूत्र 1/3। जीवात्मा की अपने स्वरुप में प्रतिष्ठा हो जाती है। योगी दर्शन, शक्ति, रूप, बुद्धि से अश्रित संप्रज्ञात समाधि से परे बुद्धि का आश्रय त्याग करके साक्षात् अपरोक्ष चैतन्य स्वरूप पुरुष तत्त्व को अर्थात् आत्म–तत्त्व को यथार्थ जान लेना है यही जीवन का अन्तिम लक्ष्य है। यही सर्वोत्कृष्ट अवस्था। अमनी भाव की स्थिति है।

भगवान कहते हैं–

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया।
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति।।

– गीता 6/20

इस प्रकार योग में ईश्वर का स्वरूप तथा दर्शन और ईश्वर के अनुग्रह से पूर्णावस्था का निर्विकल्प समाधि का सिद्ध होना आत्म–दर्शन के मार्ग पर आने वाली बाधायें निवृत्त होना आदि सारी बातों को स्वीकार किया गया है।

ॐ श्री रामलाल प्रभवे नमः

हंसविद्या की महत्ता एवं उसकी प्राप्ति के साधन

श्री पूर्णचन्द्र पन्त शास्त्री

'हंस' पद परम प्रकाश स्वरूप परमेश्वर का वाचक है। अतः हंसविद्या का अर्थ है– अध्यात्मविद्या, ब्रह्मविद्या एवं योगविद्या भी इसी के पर्यायवाची हैं। ईश्वर प्राप्ति के निमित्त किये जाने वाले सभी साधनों को शास्त्रों में 'योग' शब्द से अभिव्यक्त किया गया है। योगसाधना में हंस मंत्र का विशेष महत्व है, उपनिषदों में हंसविद्या की महिमा का वर्णन करते हुए यह बात सिद्ध की गई है कि– हंस ही परम वाक्य है, हंस समस्त वेदों का सार है, हंस परम रुद्र है और हंस ही परमात्मा है, समस्त देवताओं के मध्य में हंस ही परमेश्वर है। हंस की अनुपम ज्योति सभी देवताओं के मध्य में स्थिति है। पाशुपत ब्रह्मोपनिषद् में कहा गया है – हंस परमात्मा का स्वरूप है जो कि– श्वासों के रूप में जीव के बाहर–भीतर चलता रहता है। भीतर जाने पर अनवकाश वाले स्थान पर यह हंस सुपर्ण (ईश्वर) स्वरूप होता है। हंस का जप ही वर्ण–ब्रह्म है, इसी से ब्रह्म की प्राप्ति होती है, भीतर से होने वाले प्रणवरूपी नाद से जो हंस विदित होता है वही सब ज्ञान कराने वाला है, प्रणव और हंस में कोई अन्तर नहीं है, प्रणवरूप हंस का अन्तर्ध्यान किये बिना मोक्ष प्राप्त नहीं होता।

अतः योगाभ्यासी साधक को चाहिए कि वह निम्नलिखित विधि से प्रणवरूप 'हंस' की उपासना करे–

प्रकृतिं पुरुषे स्थाप्य, पुरुषं ब्रह्मणि न्यसेत्।
अहं ब्रह्म परं ज्योतिः, प्रसंख्याय विमुच्यते।।
यः सर्वभूतचित्तज्ञो, यस्य सर्वं हृदि स्थितः।
यस्य सर्वान्तरे ज्ञेयः, सोऽहमस्मीति चिन्तयेत्।।

अर्थात् प्रकृति (मन, बुद्धि, अहंकार आदि) को पुरुष (आत्मा) में और पुरुष को परमात्मा में अर्पित करके तथा "परम ब्रह्ममय, अखण्ड ज्योति परमात्मा मैं ही हूँ" इस प्रकार का चिन्तन करता हुआ साधक आत्मज्ञान से मोक्ष पा जाता है।

जो प्रभु प्राणिमात्र के चित्तों का ज्ञाता है एवं प्राणिमात्र के हृदय में जिनका निवास है और जो अन्तर्यामी हैं उनका "सोऽहं" भाव से चिन्तन करता हुआ मनुष्य अवश्य कल्याण का भागी बन जाता है।

हंस विद्या का अधिकारी कौन ?

हंसोपनिषद् में एक उपाख्यान आता है। जिसमें गौतम ऋषि जी की जिज्ञासा पर सनत्कुमार जी ब्रह्मविद्या का रहस्य प्रकट करते हुए कहते हैं–

समस्त देहों में यह जीव 'हंस–हंस' जपता हुआ व्याप्त रहता है, जैसे कि– काष्ठ में

अग्नि और तिलों में तेल व्याप्त रहता है। इसे जानकर मनुष्य मृत्यु को जीत लेता है, जो व्यक्ति ब्रह्मचारी हो, शान्त हो, जितेन्द्रिय हो और गुरुभक्त हो उसी के सम्मुख हंस और परम हंस का रहस्य प्रकट करना चाहिए।

यही बात ब्रह्मविद्योपनिषद् में कही गई है। यथा :–

एतन्तु परमं गुह्यं, एतन्तु परमं शुभम्।
नातः परतरं किंचित्, नातः परतरं शुभम्।।
गुरु भक्ताय देवाय, नित्यं भक्तिपराय च।
प्रदातव्यनिदं शास्त्रं, नेतरेभ्यः प्रदायवेत्।।

यह सबसे गुह्य रहस्य है, यही सर्वाधिक शुभ है, इससे आगे और कुछ नहीं है और इससे बढ़कर कल्याणकारी कुछ भी नहीं है। यह विद्या उसी को देनी चाहिए जो गुरुदेव का सच्चा भक्त हो एवं सदा भक्ति परायण रहता हो, अन्य किसी को नहीं देनी चाहिए।

मुण्डकोपनिषद् में कहा गया है :–

तस्मै स विद्वानुपसन्नाय सम्यक्,
प्रशान्तचित्ताय शमान्विताय।
येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यं
प्रोवाच तां तत्वतो ब्रह्मविद्याम्।।

श्रोत्रिय एवं ब्रह्मनिष्ठ गुरुदेव को चाहिए कि– अपनी शरण में आये हुए ऐसे शिष्य को जिसका चित्त पूर्णतया शान्त हे चुका हो, सांसारिक भोगों में सर्वथा वैराग्य हो जाने के कारण जिसके चित्त में किसी प्रकार की चिन्ता, व्याकुलता या विकार नहीं रह गये हों जो तपस्वी हो, स्वाध्यायशील हो तथा जिसने अपने और इन्द्रियों को भली–भांति वश में कर रखा हो, उसे ही उस ब्रह्मविद्या का सत्वपूर्थक उपदेश करना चाहिए, जिससे वह शिष्य नित्य अविनाशी परब्रह्म पुरुषोत्तम को जान सके।

हंसविद्या एवं गुरुभक्ति

अनन्य गुरुनिष्ठ सुपात्र शिष्य ही इस अमर विद्या को प्राप्त कर सकता है। उपनिषदों का वचन है–

हंसविद्यामृतालोके नास्ति, नित्यत्व साधनम्।
यो ददाति महाविद्यां, हंसाख्यां पावनीं पराम्।।
तस्य दास्यं सदा कुर्यात्, प्रज्ञया परया सह।
हंसविद्यामिमां लब्ध्वा, गुरुशुश्रूषया नरः।।
आत्मानमात्मना साक्षान्, ब्रह्मबुद्ध्वा सुनिश्चितम्।
देह जात्यादि सम्बन्धान्, वर्णाश्रमसमन्वितान्।।

वेदशास्त्राणि चान्यानि, पदपांशुमिव त्यजेत्।
गुरुभक्तिं सदा, कुर्याच्छ्रेयसे भूयसे नरः।।

— (ब्रह्मविद्योपनिषद्)

हंस रूपी विद्यामृत के समान संसार में नित्यत्व का (अमर होने का) अन्य कोई साधन है। जो इस हंसरूपी महाविद्या को देता है, उसकी सदैव ज्ञानपूर्वक सेवा करनी चाहिए। साधक का कर्त्तव्य है कि वह गुरुदेव से इस अमर विद्या को प्राप्त करके आत्मा से आत्मा का साक्षात्कार करता हुआ निश्चय ब्रह्म को जानने का प्रयत्न करे। देह–जाति सम्बन्धी वर्णाश्रम के नियमों तथा वेद और शास्त्रों की उपेक्षा करता हुआ गुरुदेव की श्रद्धापूर्वक सेवा करे। इसी से मनुष्य का सच्चा कल्याण होता है। क्योंकि :–

हरिरेव गुरुः साक्षान्नान्य, इत्यब्रवीच्छ्रुतिः।

श्रुति में कहा गया है कि गुरु ही साक्षात् ईश्वर है कोई अन्य नहीं है। इसलिये–

श्रुत्या यदुक्तं परमार्थमेतत्, तत्संशयो नात्र ततः समस्तम्।
श्रुत्या विरोधे न भवेत्प्रमाणम्, भवेदनर्थाय बिना प्रमाणम्।।

श्रुति ने जो कुछ कहा है वह परमार्थ रूप ही है इसमें कोई सन्देह नही है। श्रुतिविरोधी कोई बात प्रामाणिक नहीं हो सकती अप्रामाणिक बात अनर्थकारी ही होती है।

अतः कल्याणकामी व्यक्ति को चाहिए कि– वह सर्वतोभावेन गुरुचरणों से अनुरक्त रहे। गुरुभक्त साधक ही इस अमर विद्या को प्राप्त कर सकता है। इस सम्बन्ध में अखिल ब्रह्माण्डनायक, योगेश्वर श्रीकृष्ण का यह आदेश है :–

तद्विद्धि प्रणिपातेन, परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं, ज्ञानिनस्तत्वदर्शिनः।।

हंस–मन्त्र एवं अजपागायत्री

जीव स्वभाव से ही ' हंस– हंस ' इस मन्त्र को जपता रहता है किन्तु इसका उसे अनुभव नहीं होता। अभ्यासपूर्वक किया जाने वाला यही जप कालान्तर में " सोऽहं " में परिवर्तित हो जाता है। इस प्रकार के जप को अजपः– गायत्री कहा जाता है। उपनिषदों में इस विषय को विस्तार पूर्वक समझाया गया है।

यथाः–

हकारेण बहिर्याति, सकारेणविशेत्पुनः।
हंस-हंसेत्यमुं मन्त्रं, जीवो जपति सर्वदा।।
षट्शतानि दिवा रात्रौ, सहस्राण्येकविंशतिः।
एतत्संख्यान्वितं मन्त्रं, जीवो जपति सर्वदा।।

– योगचूड़ामण्युपनिषद्

प्राणवायु हंकार ध्वनि से बाहर आता है और सकार ध्वनि से भीतर जाना है। इस प्रकार जीव सदैव ' हंस–हंस ' इस मन्त्र का जाप करता रहता है। इस प्रकार वह एक दिन रात्रि में 21600 मन्त्र जपता है।

अजपा नाम गायत्री, योगिनां मोक्षदा सदा।
अस्याः संकल्पमात्रेण, सर्वपापैः प्रमुच्यते।।
अनया सदृशी विद्या, अनया सदृशो जपः।
अनया सदृशं पुण्यं, न भूतो न भविष्यति।।

इसका नाम अजपा गायत्री है, जो योगियों को मोक्ष प्रदान करती है। इसके संकल्प मात्र से ही सब पापों से छुटकारा मिल जाता है। इसके समान अन्य कोई विद्या नहीं है, इसके समान कोई जप नहीं है और इस जैसा पवित्र ज्ञान न अब तक हुआ है और न होगा ही।

कुण्डलिन्या समुद्भूता, गायत्री प्राणधारिका।
प्राणविद्या यदतां वेत्ति स वेदवित्।।

कुण्डलिवी से उत्पन्न हुई गायत्री प्राणधारिणी प्राणविद्या है जो इसको जानता है वही वेदों का जानने वाला है। इसलिये कहा गया है –

हंसविद्यामृतालोके, नास्तिनित्यत्वसाधनम्।

ॐ श्री रामलाल प्रभवे नमः

प्रेम और भक्ति

ज्योतिष कलानिधि श्री शिवनाथ मेहरोत्रा

प्रेम क्या है ? सम्पूर्ण रूप से आकर्षित हो जाना और उस आकर्षण के फलस्वरूप अपने आपे को भूल जाना, यही प्रेम का स्पष्ट लक्षण है। प्रेम के सम्बन्ध में लोग बड़ी–बड़ी बातें कहते हैं। कुछ कहते है कि प्रेम में देना ही देना है, पाने की तो बात ही नहीं। कुछ कहते हैं प्रेम में खोना ही खोना है, बस हारते जाना ही प्रेम है।

स्पष्ट है कि प्रेम के सम्बन्ध में इस प्रकार की धारणाएँ एकांगी और गलत हैं। प्रेम भगवान का स्वरूप होने के कारण उसमें देना जितना है, पाना उससे कोटि गुणा अधिक है। प्रेम से अधिक सार्थक तत्त्व और नीचे से ऊपर तक तृप्ति से सराबोर कर देने वाली दूसरी तो कोई भी वस्तु नहीं है। श्री भगवान का कथन है –

ये यथा मां प्रपद्यन्ते, तांस्तथैव भजाम्यहम्।

जो मुझे जिस प्रकार से भजता है वैसे ही मैं उसे भजता हूँ।

भगवान की ओर एक कदम बढ़ने वाले व्यक्ति की ओर भगवान सहस्त्र कदमों से बढ़ता है क्योंकि भगवान का अपना प्रण है – वे उसी प्रकार का व्यवहार करते है, जैसा हम उनसे करते हैं। हमारी शक्ति तो सीमित है, अतः हमें एक कदम बढ़ने के लिए भी घोर प्रयास करने होते हैं परन्तु वे सर्वशक्तिमान् हैं, वे एक कदम बढ़ आए तो हमारा निस्तार हो जाता है। अतः आवश्यकता तो सिर्फ हमारे एक कदम बढ़ाने की ही है। दूसरे कदम के पूर्व ही वह अपन बना लेते हैं।

वह एक कदम कैसा है ?

मां च योऽव्यभिचारेण, भक्तियोगेन सेवते।
त गुणान् समतीत्येंतान्, ब्रह्मभूयाय कल्पते।।

जो व्यक्ति अव्यभिचारी भक्तियोग के द्वारा मेरे को निरन्तर भजता है। वह गुणों को सर्वथा पार कर ब्रह्मभाव का वरण कर लेता है।

यह प्रेम अव्यभिचारयुक्त होना चाहिए। दूसरे किसी के चिन्तन का पूर्ण अभाव ही प्रेम की वस्तु निष्ठा है। गोपियों से किसी ने कहा– " श्याम के लिए रोती क्यों हो ? वे मथुरा में ही तो हैं। दो घण्टे का मार्ग ही तो बीच में है ? चलो उन्हें देख आओ। गोपियों न उत्तर दिया– हमें उन महाराजा कृष्ण से क्या वास्ता ? हमें तो अपना वही कृष्ण चाहिए जो हमारा अपना है। जो मोर का मुकुट और गुंजा की माला पहनता है। गौएँ चराता है। नाचता है, गाता है व सर्वतोभाव से जो हमें रिझा ने वाला है हमारा कृष्ण वही है। हमारा कृष्ण तो हमारी निजी सम्पत्ति है। उस पर दूसरों का क्या अधिकार ? वह तो आज भी हमारे हृदय में है। मथुरा वाला कृष्ण तो विश्व की सम्पत्ति

है। उसे हम अपना कैसे कह सकती है ?

कृष्ण हमारे हिय बसें
मोर मुकुट छबिधाम।
श्याम किसोर कृपालु प्रभु
दुखहर प्रद मनकाम।।
रासबिहारी मनहरन
सर्वशक्ति को पुञ्ज।
धारा को राधा किए
योगेश्वर छबिकुञ्ज।।
गुञ्ज माल का मुरलिका
ओष्ठ अरुण भुज शक्त।
नाचत गात रिझात जन
गोपालक जन् भक्त।।
पीत बसन, माखन असन,
गिरिधारक अनयास।
विधि इन्द्रादिक मद हरन,
ब्रज रज किए बिलास।।
हमरो कृष्ण हमार धन
संतत चित्र निवासु।
का करिहैं मथुरेश हरि
लखि जिन विश्वनिवासु।।

स्वयं श्री कृष्ण से ही प्रेम करने वाली ये गोपियाँ उनके बाल गोप की ही अनन्य भाव से उपासना करती रहीं और यह जानकर भी कि वे ही विश्वम्भर और सर्वेश्वर हैं, उन्होंने अपनी एकाग्रता को भंग नहीं होने दिया।

यही कारण है कि साधक को अपनी एकाग्रता बनाए रहनी पड़ती है। उसे जो गुरु मंत्र मिला है उस एक मन्त्र का जप हो उसके लिए अभीष्ट है। यही कारण है कि सद्गुरु जब भी अपने शिष्य को ध्यानादेश देते हैं तो उसकी रुचि और प्रवृत्ति को परख कर ही देते हैं। श्रीरामकृष्ण परमहंसदेव ने अपनी जीवन चर्या में चमत्कारों का प्रदर्शन तो कभी नहीं किया परन्तु उनका जीवन चरित्र हर कदम पर चमत्कार पूर्ण रहा। कोई काली का भक्त आया तो वे

काली के गुणगान में मत्त हो गए। शिव उपासक के आते ही वे शिवस्वरूप हो उठते थे। कृष्ण भक्तों के समक्ष वे साक्षात् चैतन्य बन जाते। विविध मार्ग के अधिकारियों को पहचान कर उन्हें तद्वत् ही साधना का आदेश देते थे। ऐसा नहीं कि सभी को ' अहं ब्रह्मास्मि ' का उपदेश दे दिया। एक बार स्वामी विवेकानन्द जब नरेन्द्र के रूप में ही अपनी साधना को विकसित कर रहे थे, उनका राखाल नाम के भक्त साधक से वाद–विवाद हुआ। नरेन्द्र की प्रखर वाक्शक्ति और योग्यता के समक्ष राखाल टिक नहीं सके और भक्तिमार्ग के पक्ष में योग्य उत्तर न दे पाने से ज्ञान की गरिमा मानने के लिए उनमें बाध्यता के विचार प्रविष्ट हो गए। परिणाम स्वरूप उनकी जो भक्ति साधना थी उसमें उन्हें कमी नजर आने लगी। ऐसा स्थिति में श्रीराम–कृष्ण देव ने नरेन्द्र को झिड़का। उन्होंने नरेन्द्र को समझाया कि हर मार्ग सत्य है। हर व्यक्ति एक ही तरह से सोच समझ व बढ़ नहीं सकता। हर व्यक्ति न तो योगी हो सकता है न ज्ञानी। न ही हर व्यक्ति सर्वस्व समर्पित कर देने वाला भक्त ही बन सकता है। जिस व्यक्ति के अन्दर जैसे भाव समाविष्ट हैं वैसे भाव से ही उपासना के पथ पर बढ़ते चले जाना ही अभीष्ट है।

विवेकानन्द जी ने इस को हृदयमय कर लिया और उसके बाद तो विवेकानन्द ने भी स्वयं ज्ञानमार्ग पर आरूढ़ होते हुए भी भक्ति, योग, कर्म और ज्ञान जैसा।। अधिकारी हो उसे वैसा ही उपदेश देने का क्रम रखा।

सिद्धयोग के मार्ग में यद्यपि साधक को एक ही प्रकार की प्रारम्भिक दीक्षा दी जाती है, फिर भी यह स्पष्ट रूप से देखा जाता है कि जो योगेश्वर गुरु हैं वे प्रत्येक साधक के अन्तःकरण में स्थित होकर उसे उसके योग्य पथ पर बढ़ाने में प्रकाशस्तम्भ का काम करते हैं। सिद्धयोग दीक्षित व्यक्ति Self Hyposis – आत्म सम्मोहन का फल देता है और वह यह समझ कर कि हमें अब अन्तर्जगत् में प्रवेश का अधिकार मिल गया है, उस ओर प्रारम्भिक प्रवृत्ति पाता है जो बाद में उसकी अपनी मनोभावना के अनुरूप ही विकसित होती जाती है।

योग का उदय भावना से होता है। यही कारण है कि 'संयम' की स्थिति में– धारणा, ध्यान और समाधि में, 'भावना' का ही प्रमुख हाथ रहता है। यम, नियम, आसन, प्राणायाम व प्रत्याहार तो भावना को संशुद्ध और ईश्वरों–मुख बनाने के लिए ही हैं। यम, नियम, आसन, प्राणायाम व प्रत्याहार के प्रभाव स्वरूप यदि भावना संशुद्ध और ईश्वरोन्मुख नहीं हुई तो भी योग प्रदत्त सिद्धियाँ तो साधक में प्रविष्ट हो जाती है परन्तु वह राक्षसी मार्ग पर प्रवृत्त हो जाता है। रावण, कुम्भकर्ण, मेघनाद और अन्य बहुत से ऐसे राक्षस रहे हैं जो योगशक्तियों से संयुक्त थे। और उनमें बहुत प्रकार की सिद्धियाँ थीं। इसका कारण यही था कि उनकी भावना ईश्वरोन्मुख न होकर भोगोन्मुखी थी। योग जनित शक्ति का प्रयोग भले व बुरे दोनों मार्गों पर हो सकता है। परन्तु योग शास्त्र का चरम लक्ष्य तो साधक को ऊर्ध्व मुखी बनाना ही है।

ऊर्ध्व मूलमधः शाखम, श्वत्थं प्राहुरव्ययम्।

छन्दांसि यस्य पर्णानि, यस्तं वेद से वेदवित्।।

–गीता

ऐसे वृक्ष को जानने की वह योगशास्त्र प्रेरणा देता है जिसका मूल ऊर्ध्व में है, जिसकी शाखाएँ नीचे की ओर फैली हुई हैं, जो अव्यय अश्वत्थ जैसा है। यहाँ अश्वत्थ शब्द के अनेक

अर्थ है अश्वत्थ अर्थात् पीपल जैसा वह है। उस पीपल की शाखाएँ नीचे फैली हैं परन्तु उसकी जड़ ऊपर हैं। यह अवश्त्थ अव्यय है, उसका क्षय कभी नहीं होता। अश्व शब्द घोड़े का वाचक है। घोड़ा शक्ति के रूप में पहचाना जाता है। अमुक इन्जन अमुक अश्व–शक्ति का है, ऐसा इसलिए कहते हैं क्योंकि शक्ति को अश्व के सन्दर्श से मापते हैं। दशहरे पर शक्ति पूजन के प्रसंग में अश्व का भी पूजन किया जाता है। यह जो अश्वत्थ वृक्ष है यह समस्त शक्तियों का पुञ्ज है। वह जो सर्वशक्तिमान है वही इस अश्वत्थ के रूप में है और उस मूल तक पहुँचने की साधना हो योगी का प्रमुख कर्त्तव्य है। उस वृक्ष के पत्ते छन्दमय हैं। भाँति–भाँति की ध्वनियाँ है जो उसके पत्तों–पत्तों में छन्दरूप में निबद्धित हैं। सिद्धयोग के पथिक को ऊँगली पकड़ा दी जाती है और बाद में मूल तक पहुँचने का मार्ग वह अपने आप प्रशस्त करता चला जाता है। एक एक पत्ते की एक एक ध्वनि को परखता हुआ वह अन्ततोगत्वा उस मूल तत्त्व को पाने के लिए तब तक बढ़ता रहेगा जब तक समस्त शक्तियों के उस अनन्त सागर तक स्वयं नहीं पहुँच जाएगा। इन ध्वनियों के सम्बन्ध में भी अलग अलग साधकों ने अलग अलग मत व्यक्त किए है। परन्तु इसमें संदेह नहीं है कि मूल वस्तु जिसके ध्यान में है वह शाखाओं में उलझ कर नहीं रह जाएगा। वह चाहे ' ओम् ' कहे, चाहे ' अमीन ' या 'ऐमन्' या 'ऐं' या 'ह्रीं' या 'क्लीं' – वह अन्ततोगत्वा एक निरन्तर प्रवाहमान सनातन स्वर को पहचान कर उससे एकात्म्य प्राप्त कर ही लेगा। चाहे साधक मृदंग की ध्वनि से आगे बढ़े, चाहे बांसुरी से, चाहे मेघगर्जन से और चाहे नूपुर ध्वनि से– इनका विविध रूपान्तर तो सिर्फ शाख प्रकरण ही है। मूलतः ये सब ऊपर एक महासमुद्र में ही विलय को प्राप्त करते हैं।

इसी अश्वत्थ के प्रसंग से मन्त्रशास्त्र का उल्लेख भी करना पड़ता है। समस्त ध्वनियाँ इस अश्वत्थ में निबद्ध होने से समस्त ध्वनियाँ ही शक्तिमती हैं। वस्तुतः ये ध्वनियाँ ही शक्ति हैं और इन सब का मूल ही शक्तिमान ' कृष्ण ' है। इन्हें पहचान कर इनकी अलग–अलग शक्ति का वर्णन मंत्रशास्त्र में किया गया है।

भगवान शंकर ने कहा है–

अमन्त्रं अक्षरं नास्ति, योजकस्तत्र दुलभः।।

ऐसा कोई भी अक्षर नहीं है जिसमें मंत्र शक्ति न हो व जिसके सहारे से कोई विलक्षण फल उत्पन्न न किया जा सके। परन्तु उसे जानने वाले और उसका सही उपयोग कर सकने वाले लोग ही दुर्लभ हैं।

भारतवर्ष कर्मभूमि है और समस्त विश्व भोगभूमि है। हमारी इस कर्मभूमि में भगवान योगेश्वर हरि का कृपा–प्रसाद कण–कण में बिखरा पड़ा है। हमारी मातृभाषा हिन्दी जिसे आज तक भारत की राष्ट्रभाषा का गौरवशील स्वरूप नहीं मिला उसका कारण सिर्फ यह है कि हमारे देश के विचार शील लोगों को अपनी संस्कृति और उसके देवत्व का ज्ञान नहीं हुआ या उनके ध्यान तक इन तथ्यों को पहुँचाने का प्रयास किसी विद्वान या महात्मा ने नहीं किया। वास्तव में हिन्दी भाषा ही वह देवभाषा है जिसके पचास वर्ण प्रत्येक मानव की अन्तर्गुहा में आवद्ध हैं जिनके आश्रय से वह क्रम–क्रम से ऊपर उठता है। इन वर्णो का उत्क्रम आश्रय लेकर ही उस ऊर्ध्व मूल तक पहुँचा जाता है। किसी भी धर्म, जाति या देश का मनुष्य हो उसे इन्हीं पचास वर्णो के आश्रय

से अपने विचारों की अभिव्यक्ति करनी पड़ती है। इनके Vibration– उच्चारण जनित कम्पन को मंत्र–शक्ति से ही वह वातावरण पर विजय प्राप्त करने या इनके गलत प्रयोग से आदत को विनष्ट होने में प्रवृत्त होता है। यह बात जिस दिन विश्व के मनीषी समझ सकेंगे उस दिन हिन्दी केवल भारत की ही नहीं वरन् विश्वभर की घोषित राज्यभाषा के रूप में मान्यता प्राप्त कर लेगी। मोक्ष का अधिकारी तो हमें हिन्दीभाषा ही बनाती है।

योग साधना के मार्ग में प्रवृत्त होने वाले साधक को मूलाधार चक्र की रूप रेखा समझा कर तत्रस्थ ' व श ष स ' वर्णों का बोध पहले दिया जाता है।

स्वाधिष्ठान चक्र में पहुँचने पर साधक ' ब भ म य र ल ' वर्णों के संयोग में आता है।

जब वह मणिपूरक में पहुँचता है तो ' ड ढ ण त थ द ध न प फ ' वर्णों से उसका संयोग होता है।

यहाँ से ऊपर उठने पर अनाहत चक्र की सीमा में प्रविष्ट होकर वह ' क ख ग घ ङ च छ ज झ ञ ट ठ ' वर्ण ध्वनियों से साक्षात्कार कर उन पर विजय पाता है।

इसके बाद जब और ऊपर उठता है तब विशुद्ध चक्र के सोलह दलों के आश्रय में निवास करने वाले 16 स्वरों ' अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ लृ ॡ ए ऐ ओ औ अं अः ' का वह साक्षात्कार करताहै।

इस प्रकार 48 वर्णों का साक्षात्कार यहाँ तक पाकर वह ऊपर आज्ञा चक्र में प्रवेश का अधिकारी बनता है।

श्रीरामकृष्ण देव ने ऐसा कहा है कि विशुद्ध चक्र तक पहुँचा हुआ साधक अपनी त्रटियों से पुनः संसार में नीचे गिर सकता है। परन्तु विशुद्ध चक्र को भेद कर यदि वह ऊपर आज्ञा चक्र में प्रविष्ट हो जाता है तो फिर संसार में उसके पतन की सम्भावना नहीं रहती । आज्ञा चक्र में पहुँचने पर अंतिम दो वर्ण– 'ह' व 'क्ष' का साक्षात्कार मिलता है।

ये पचास वर्ण हिन्दी बोलने वालों की नित्याभ्यास भाषा में ग्रथित हैं। जब ये ' अ ' से क्रम से बोले जाते हैं तब ' सँ ' पर्यन्त सृष्टि क्रम में सृष्टि निर्माण करते हैं और जब उत्क्रम से इनका अभ्यास होता है तो ' सँ ' से ' अँ ' पर्यन्त ऊर्ध्व पथोन्मुखी बनाकर मुक्ति दायी होकर ' अनन्त शक्ति सागर ' की ओर उन्मुख बनाते हैं।

किसी भी मंत्र को जब योग क्रम से ' योनिमुद्रा ' के आश्रय से जपते हैं तब इन पचास वर्णों में मूलाधार चक्र का बीज मंत्र लें, स्वाधिष्ठान चक्र का बीज मंत्र थें, मूलाधार चक्र का बीज मंत्र रें, एवं अनाहत चक्र का बीज मंत्र यँ, योजित कर कुल 54 वर्ण ऊर्ध्व में पहुँचने तक व 54 ऊर्ध्व से अधोभाग तक– इस प्रकार 108 वर्णात्मक वर्णमाला के आश्रय में अपने इष्ट मंत्र को ग्रथित कर जप करने से वह मंत्र सवीर्य हो जता है। इस प्रकार स्वल्प क्रम से ही वह पुरश्चरण वत् प्रबल प्रभावशाली होकर अपना फल तत्काल प्रदान करता है। परन्तु यह योनिमुद्रा जाप योगी के ही लिए बोधगम्य होने से सामान्य स्तर के मंत्र जापक इसके संबंध में कुछ नहीं जानते। अतः प्रयास भी नहीं करते।

भक्तियोग के सम्बन्ध में इस मंत्रयोग का वर्णन करने का कारण यही है कि यह बात स्पष्ट रूप से समझी जा सके कि कोई भी योग पद्धति हो उसका प्रभाव उत्क्रमण अर्थात् ऊपर ले जाना ही है। प्रेमयोग का साधक जब योग का आश्रय लेता है तो अनायास– बिना किसी

प्रकार का स्पष्ट साधन किये ही, केवल ईश्वर की इच्छा से ही उसका उत्क्रमण स्वमेव होता है। भगवान का नाम है– कृष्ण ! कृष्ण शब्द का अर्थ ही है– आकर्षित करने वाला। यह आकर्षण दोनों प्रकार का हो सकता है। प्रारम्भ में तो मनुष्य उनके सौंदर्य या बाहर से दिखने वाली शक्तिमत्ता और उनके आश्रय के फलस्वरूप प्राप्त होने वाली निश्चिन्त समाधानता के कारण उनकी ओर खिंचता है। वस्तुत: यह भी अनन्त जन्मों के शुभ प्रभावों के उदय होने पर ही होता है। बाद में तो वे आकर्षण के देवता श्रीकृष्ण प्रेम रस से आप्लावित कर समस्त गुणों व शक्तियों को प्रेम के अनन्त समुद्र में पहुँचाकर घनानन्द से ओतप्रोत करने का कार्य अपने प्रणबद्धता से स्वयंमेव ही करते हैं।

यह बात भी विशेषत: विचारणीय है कि प्रेमयोग व भक्तियोग वस्तुत: एक होते हुए भी इसमें भी कुछ अन्तर तो है ही। हम प्रभु की गोद में बैठे हैं, वे प्रभु हमें अपनी इच्छा से नचा रहे हैं– भक्त का भाव कुछ ऐसा ही होता है।

प्रेमी भक्त इससे कुछ और आगे बढ़ जाता है। भगवान की गोद में हम कैसे बैठें ? भगवान को कुछ कष्ट कैसे दें ? भगवान तो स्वयं हमारे प्रिय हैं, प्रियतम हैं। उन्हें अपने हृदयासन पर बैठाएँ, प्यार करें और उनमें अपने आपको भूल जाएँ– यही प्रेम है। यह प्रेम आत्मसमर्पण और भगवत्प्राप्ति एक साथ देने वाला है। इसमें कहीं कुछ खोना नहीं है और सब कुछ– संसार की सबसे बड़ी तृप्ति एक बार प्राप्त कर लेना ही है। स्पष्ट ही यह साधना अन्तिम साधना ही है और इससे पूर्व तो भक्ति की विविध धारणाओं का सहारा लेना ही पड़ता है।

यह बात ध्यान रखने की है कि कामदेव एवं श्रीकृष्ण दोनों का बीज मंत्र एक ही है– क्ली'। इसके अन्दर भी एक रहस्य है। जब मनुष्य आकर्षित या कामुक होता है तब उसकी एकाग्रता अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाती है। बहुत से लोग प्रेम में निराश होकर अपनी आत्म हत्या कर बैठते हैं क्योंकि उनकी समस्त चित्तवृत्तियाँ अपने प्रेमास्पद में एकाग्र हो जाती हैं। अतएव उनकी वह एकाग्र चित्त–वृत्ति यदि किसी संयोग से भगवान की ओर उन्मुख हो जाए तो वे इतनी शीघ्रता और तेजी से भगवत्साक्षात्कार प्राप्त कर लेते हैं जितनी तीव्रता से अन्य मार्गों के साधक नहीं पा सकते। संत तुलसी दास, बिल्वमंगल, सूरदास आदि के उदाहरण इस सम्बन्ध में प्रख्यात रूप से विचारकीय हैं।

अत: अपने आपको उस परम सौन्दर्य की सुखद अनुभूति में डुबो दो। यह निश्चित जानों कि यदि उस प्रभु के प्रीति रस का आस्वादन हो रहा है तो तुम्हारी समस्त कामनाएँ स्वयमेव पूर्ण होंगी। क्योंकि इस प्रभु ने स्पष्ट कहा है–

जन कहँ कछु भेदय नहिं मोरे।।

मेरे प्रभुजी

मेरे प्रभुजी संवाई में बुला लोगे तो क्या होगा
मेरे गुरुदेव शरण अपनी लगा लोगे तो क्या होगा
संवाई आके प्रभु जी ने योगलीला दिखाई थी-2
योग गंगा जगत में फिर बहा दोगे तो क्या होगा

मेरे प्रभु जी..........

सेवा कर चन्द्र प्रभु जी ने योग अमृत को पाया है-2
योग अमृत जगत को फिर पिला दोगे तो क्या होगा

मेरे प्रभु जी ....

उजाला योग का देकर तिमिर जग का हटाया है-2
योग ज्योति हमें प्रभु जी दिखा दोगे तो क्या होगा

मेरे प्रभु जी ....

यहाँ गम दूर हो जाते मुरादें पूरी होती हैं-2
नजर रहमत की जो प्रभुजी हमें दोगे तो क्या होगा

मेरे प्रभु जी ....

संवाई धाम में दिन रात शक्ति संचार होता है-2
दीवाना अपने चरणों का बना दोगे तो क्या होगा

मेरे प्रभु जी ....

भक्ति का दान दो प्रभु जी अर्ज हमने लगाई है-2
विजय को चरणों की सेवा प्रभु दोगे तो क्या होगा

मेरे प्रभु जी ....

हमको भी बुला लो धाम संवाई
दर्शन दो प्रभु राम लाल सांई

—विजय शर्मा

सहारनपुर

जादू सा असर करता है भारतीय विचार

स्वामी विवेकानन्द

भारत का दान है धर्म, दार्शनिक ज्ञान और आध्यात्मिकता। धर्म प्रचार के लिए यह आवश्यक नहीं कि सेना उसके आगे-आगे मार्ग निष्कंटक करती हुई चली। ज्ञान और दार्शनिक तत्व को शोणित-प्रवाह पर ढोने की आवश्यकता नहीं। ज्ञान और दार्शनिक तत्व खून से भरे जख्मी आदमियों के ऊपर से सदर्प विचरण नहीं करते। वे शान्ति और प्रेम के पंखों से उड़कर शान्तिपूर्वक आया करते हैं, और हुआ भी सदा यही है। अतएव संसार के लिए भारत को सदा कुछ देना पड़ा है। लन्दन में किसी युवती ने मुझसे पूछा ," तुम हिन्दुओं ने क्या किया ? तुमने कभी किसी भी जाति को नहीं जीत पाया है। "अंग्रेज जाति की दृष्टि में - वीर, साहसी, क्षत्रियप्रकृति अंग्रेज जाति की दृष्टि में- दूसरे व्यक्ति पर विजय प्राप्त करना ही एक व्यक्ति के लिए सर्वश्रेष्ठ गौरव की बात समझी जाती है। यह उनके दृष्टि बिन्दु से सत्य भले ही हो, किन्तु हमारी दृष्टि इसके बिल्कुल विपरीत है। जब मैं अपने मन से यह प्रश्न करता हूँ कि भारत के श्रेष्ठत्व का क्या कारण है, तब मुझे यह उत्तर मिलता है कि हमने कभी दूसरी जाति पर विजय प्राप्त नहीं की, यहीर हमारा महान गौरव है। तुम लोग आज कल सदा यह निन्दा सुन रहे हो कि हिन्दुओं का धर्म दूसरों के धर्म को जीत लेने में सचेष्ट नहीं ; और मैं बड़े दुःख से कहता हूँ कि यह बात ऐसे - ऐसे व्यक्तियों के मुँह की होती है, जिनसे हम अधिकतर ज्ञान की अपेक्षा करते हैं। मुझे यह जान पड़ता है कि हमारा धर्म दूसरे धर्मों की अपेक्षा सत्य के अधिक निकट है। इस तथ्य के समर्थन की प्रधान युक्ति यही है कि हमारे धर्म ने कभी दूसरे धर्मों पर विजय प्राप्त नहीं की, उसने कभी खून की नदियाँ नहीं बहायीं, उसने सदा आशीर्वाद और शान्ति के शब्द कहे, सबाके उसने प्रेम और सहानुभूति की कथा सुनीयी। यहीं, केवल यहीं, दूसरे धर्म के द्वेष न रखने के भाव सबसे पहले प्रचारित हुए, केवल यहीं पर धर्म- सहिष्णुता तथा सहानुभूति के ये भाव कार्य रूप में परिणित हुए। अन्य देशों में यह केवल सिद्धान्त-चर्चा मात्र है। यहीं, केवल यहीं, यह देखने में आता है कि हिन्दू लोग मुसलमानों के लिए मसजिदें और ईसाइयों के लिए गिरजे बनवाते हैं।

अतएव आप समझ गये होंगे कि किस तरह हमारे भाव धीरे-धीरे शान्त और अज्ञात रूप से दूसरे देशों में गये हैं। भारत के सब विषयों में यही बात है। भारतीय विचार का सबसे बड़ा लक्षण है, उसका शान्त स्वभाव और उसकी नीरवता। जो प्रभूत शक्ति उसके पीछे है, उसका प्रकाश जबरदस्ती से नहीं होता। भारतीय विचार सदा जादू सा असर करता है।

प्रेषण कार्यालय :

सिद्धयोग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक
उच्चकोटि का हिन्दी मासिक

श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र
सॅवाई (एत्मादपुर) आगरा (उ.प्र.)

PRINTED MATTER BOOK-POST

श्री/सुश्री ____________________

____

____

ते पुत्रा ये पितुर्भक्ता: स पिता यस्तु पोषक:।
तन्मित्रं यस्य विश्वास: सा भार्या यत्र निर्वृत्ति:।।
(चाणक्य नीति)

पुत्र वही है जो पिता का भक्त है, पिता वह है जो पुत्रों का पालन-पोषण करता है, मित्र वह है जो विश्वास पात्र हो और पत्नी वह है जिससे सुख प्राप्त हो।

संरक्षक :– योगयोगेश्वर अनन्तश्री [illegible] जी महाराज। मुद्रक एवं प्रकाशक डॉ. [illegible] शर्मा के लिए राष्ट्रीय ब्लॉक एण्ड प्रिंटिंग वर्क्स, आगरा-3 से मुद्रित एवं श्री योग प्रशिक्षण केन्द्र, सवाई (एत्मादपुर) आगरा से प्रकाशित। आर.एन.आई. नं. UPHIN/2004/14566 सम्पादक : आचार्य श्री (डॉ.) [illegible] शर्मा